दयानन्द दिव्य दर्शन

जीवनचरित रचना
क्षितीश वेदालंकार

चित्रकार • चारुचन्द्र

तत्त्वावधान • रामगोपाल शालवाले
प्रधान,

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन रामलीला मैदान
नई दिल्ली भारत

ओ३म्

श्रीयुत चोधरी आलम सिंहजी आनंदित रहो
विदित हो कि हम उदयपुर से फाल्गुन बदि ७ सप्त
मी के दिन ७ चितौड़ में आन पहुंचे और अब यहां
से फाल्गुन बदी त्रियोदशी के दिन ग्राम की रेल
में बैठकर चतुर्दशी के दिन शाहपुरा कुराज
मेवाड़ जिला अजमेर को जो कि बड़ी रूपाहेली
से ८ कोश है जायगे और जो कागज देतो
इसी पते से देना - आगे हाल यह कि एक
स्वीकार पत्र राज उदयपुर में मुद्राङ्कित स्वीकृत
हुआ और उसके अधीपती श्रीमान दिवाकर
हुए हैं बाकी सब सभासद जब उपस्थित
होगा और एक मान्य पत्र भी दिया है और
र छः शास्त्रो का मुख्य २ विषय और मनुस्मृ
ति का राजधर्म तथा विदुर प्रजागरादिक ग्रं
थ कुछ व्याकरण और अन्वय की रीति श्री
मानोंने मुझसे पढ़ी - और रू० १२००) कलदार
और एक दुशाला वेदभाष्य के सहायार्थ औ
र एक साधारन दुशाला और रू० १००) कलदार
रामानंद ब्रह्मचारी को और ५००) रू० कलदार
फीरोजपुर के अनाथालय के लिये और रू०
३००) कलदार उसीने दुर्भिक्ष करने वाले लोग
किसीको पारीतोषिक प्रदान किया

मिती फाल्गुन बदी १२ संवत् १९३९ तदनुसार
तारीख ९ मार्च सन् १८८३ ई०

(हस्ताक्षर)

दयानन्दसरस्वती

महाराणा सज्जनसिंह उदयपुर को

महर्षि दयानन्द सरस्वती के स्वहस्तलिखित पत्र की प्रतिलिपि

DAYANANDA DIVYA DARSHAN

A PICTORIAL BIOGARAPHY OF
MAHARSHI DAYANANDA SARASWATI

BIOGRAPHY WRITTEN BY
KSHITISH VEDALANKAR

SCHEMES LAYOUTS & PAINTINGS BY
CHARU CHANDRA KHAN

PRICE Rs. 51·00

प्रकाशक
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन ■ रामलीला मैदान
नई दिल्ली ११० ००२ ■ भारत

मुद्रक
डिलाइट प्रेस
६३३/६३५ चूड़ीवालान, चावड़ीबाजार
दिल्ली ११० ००६

मूल्य ५१·०० रुपया

प्रकाशकीय वक्तव्य

आर्य समाज स्थापना शताब्दा (१९७५) के पुण्य-अवसर पर सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा ने जिस उत्कृष्ट साहित्य के प्रकाशन की योजना बनाई थी और जिसके अन्तर्गत अनेक ग्रन्थ छपे हैं, उसमें 'दयानन्द दिव्य दर्शन' नामक इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी सम्मिलित था।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का लक्ष्य जहां आर्यसमाज के यशस्वी संस्थापक महर्षि दयानन्द के दिव्य व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सचित्र चित्रण प्रस्तुत करके उनके महान उपकारों के प्रति आदर एवं कृतज्ञता की भावना व्यक्त करना था, वहाँ जन-सामान्य मुख्यतः आर्य गृहों में शताब्दी की स्मृति के उपहारस्वरूप इस ग्रन्थ को रखाए जाने की व्यवस्था करना भी था। ग्रन्थ में महर्षि के टंकारा से लेकर अजमेर तक के जीवन की सचित्र झांकियां प्रस्तुत की गयी हैं।

चित्रों का निर्माण, चयन, सामग्री का संकलन, संपादन एवं प्रकाशन साधारण कार्य न था। यह बड़ा श्रम एवं समयसाध्य कार्य था जिसकी कल्पना प्रारम्भ में न थी। इसी कारण इसके प्रकाशन में विलम्ब हुआ जो जनता की उत्सुकता के परिप्रेक्ष्य में अधिक खटकने वाला बन गया।

इस ग्रन्थ की योजना के मुख्यतम प्रस्तोता श्री स्व० स्वामी सोमानन्द जी (श्री पं० नरेन्द्र जी, मन्त्री सार्वदेशिक आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समिति) तथा सभा मन्त्री श्री ओम् प्रकाश जी पुरुषार्थी, संसद सदस्य थे जिनकी भावना और प्रयत्न सराहनीय रहे।

प्रस्तुत ग्रन्थ के चित्रों का निर्माण कलकत्ता के कलाकार एवं चित्रकार श्री चारुचन्द्र खान तथा वर्णनात्मक सामग्री का संकलन एवं सम्पादन श्रीयुत पं० क्षितीश कुमार वेदालंकार, सह-सम्पादक दैनिक हिन्दुस्तान (नई दिल्ली) के द्वारा हुआ है। श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक सह सम्पादक सार्वदेशिक साप्ताहिक ने सामग्री संकलन में सहायता दी है। प्रेस से भी हमें अपेक्षित सहयोग मिला है जिसे हम आदर की दृष्टि से देखते हैं।

इस ग्रन्थ को हर प्रकार से संग्रहणीय एवं उपादेय बनाने का पूरा पूरा यत्न किया गया है। यदि इस पर भी कोई त्रुटि रह गयी हो तो ज्ञात होने पर विचार किया जायेगा।

इस प्रशस्ति ग्रन्थ को जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता है।

आशा है इसका समुचित आदर किया जायगा।

१३ दिसम्बर १९७६
महर्षि दयानन्द भवन
रामलीला मैदान
नई दिल्ली-११०००२

सच्चिदानन्द शास्त्री
मन्त्री
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा



महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा व्यवहृत
कुछ सामग्री का दिग्दर्शन

भूमिका

महर्षि दयानन्द का जीवन घटनापूर्ण है और घटनाओं की यह जंजीर बड़ी लम्बी है।

इस जंजीर में पहली दो कड़ियाँ मूर्तिपूजा में अनास्था, सच्चे शिव (परमात्मा) के दर्शन और प्रिय बहिन तथा चाचा के आकस्मिक देहावसान से मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की उत्कण्ठा एवं जिज्ञासा के प्रादुर्भाव के रूप में जुड़ी थी। इसके पश्चात सदैव के लिये गृहत्याग, सन्यासदीक्षा, निरंतर १५ वर्ष तक बीहड़ वनों उच्च पर्वतों एवं सरिता तटों पर भ्रमण करते हुए सच्चे योगियों की खोज, गुरुवर विरजानन्द से भेंट, आदर्श शिष्य द्वारा गुरु के आदेश के परिपालनार्थ देश एवं विश्व कल्याण के लिए विरक्तिमार्ग से निवृत्ति मार्ग में प्रवेश, ब्रह्मचर्य की प्रतिमा, महान वेदोद्धारक, प्राचीन आर्य संस्कृति के पुरस्कर्ता एवं सजीव प्रतीक, गोरक्षक, राष्ट्रभाषा हिन्दी के पृष्ठपोषक, दलित पतित और अबलाओं के उद्धारक, स्वतन्त्रता के सूत्रधार, आधुनिक भारत के निर्माता, महाविद्वान्, विश्व-कल्याण भावना, करुणा कर्तव्यपरायणता और न्यायभावना के प्रतिपालक, अधर्म अनीति के परिहारक, निर्भयता की मूर्ति, धर्ममय राजनीति के संदेशवाहक के रूप में शंकर, बुद्ध और कृष्ण की श्रेणी में स्थान प्राप्ति, लोगों के हर प्रकार के बन्धनों के छेदन, विषदाता को क्षमादान आदि की उस महामानव के घटनापूर्ण जीवन में दिव्य एवं उज्वल कड़ियाँ जुड़ी थीं।

"भारतीय धार्मिक विचारधारा ने एक विशुद्ध भारतीय समाज (आर्यसमाज) को जन्म दिया जिसके शीर्ष स्थान पर उच्चतम कोटि का एक व्यक्तित्व (दयानन्द का) था। सिंह समान प्रकृति वाला यह मानव उन मानवों में था जिसे भारत का मूल्यांकन करते और भुलाते हुए भी यूरोप भुला न सकेगा। वह विचारक और कर्मयोगी का आदर्श संमिश्रण था और नेतृत्व की प्रतिभा से जाज्वल्यमान था। वह इलियड या गीता का नायक और हरक्युलिस जैसा बलशाली या जिसने हर प्रकार की बुराई अनीति और अधर्म के विरुद्ध आवाज उठाई।

"वह प्रकाश का रक्षक एवं प्रचारक था। प्रभु का बेजोड़ योद्धा था। वह मानवों और संस्थानों का चितेरा था। वह सांसारिक प्रलोभनो और भोगों से लोहा लेने वाला दुर्दान्त योद्धा और विजेता था। दयानन्द वह महामानव था जिसने आध्यात्मिकता को क्रियात्मक रूप देने में अपूर्व सफलता प्राप्त की थी। उसने कहा था "योगी बनो, साथ ही कर्मयोगी भी बनो। आत्मज्ञानी बनो परन्तु मानव भी बनो। परमात्मा के सेवक बनो परन्तु प्रकृति के स्वामी बनो। मुझे अपनी मुक्ति की आकांक्षा नहीं है। निर्धनों, असहायों, दलितों, पतितों आदि की मुक्ति में ही मेरी मुक्ति है।"

"दयानन्द सरस्वती उन महापुरुषों में थे जिन्हें इतिहास महामानव दिव्यद्रष्टा और मानवों के सुन्दर जीवन का निर्माता अंकित करेगा। वह उन दिव्य व्यक्तियों में से थे जिन्हें वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों ने देवताओं की पदवी प्रदान की है तथा जो मानव जाति के आदर के पात्र रहे हैं और हैं।"

श्री रोमारोलां एवं श्री अरविन्द घोष के उपर्युक्त उद्गारों से महर्षि दयानन्द के जीवन का ठीक-ठीक चित्रण होता है और उनके जीवन की घटनाओं की धवलता एवं गरीयता सहज ही सुस्पष्ट हो जाती है।

इन कड़ियों का भव्य दिग्दर्शन कराने के लिये ही सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने, जो आर्य जगत की शिरोमणि सभा है, यह सचित्र दिव्य दर्शन ग्रन्थ तैयार कराया है। निश्चय ही इसे आर्य साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त रहेगा।

प्रभु करे देश व विश्व के लोगों के हृदयों में महर्षि दयानन्द के जीवन का प्रकाश सुदीर्घ होकर जगमगाए।

दयानन्दाब्द १५२
मार्गशीर्ष २१ सम्वत १८६८
दिनांक १२ दिसम्बर १६७६

रामगोपाल शालवाले
प्रधान
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

३/५ महर्षि दयानन्द भवन
रामलीला मैदान, नई दिल्ली-११०००२

दयानन्द दिव्य दर्शन



उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ की बात है। सन् १७५७ में हुई प्लासी की लड़ाई में अंग्रेजों से हारने के पश्चात् भारत में मुगल शासन का सूर्य अस्त हो रहा था, और अंग्रेजों के शासन का सूर्य धीरे-धीरे उदय हो रहा था। अठारहवीं सदी के अन्त तक मुगल साम्राज्य की समाधि-भूमि पर ब्रिटिश साम्राज्य की जय-पताका लहरा चुकी थी। पर देश में शान्ति स्थापित नहीं हुई थी।

चारों ओर अराजकता का बोल-बाला था। देशी राजाओं और नवाबों के साथ अंग्रेजों की सेना की चाहे जब मुठभेड़ होती रहती थी। चोरी और डकैती का जोर था। नरहत्या को खेल समझने वाले ठगों के आतंक से जनता सदा त्रस्त रहती थी। सामाजिक स्थिति इतनी दयनीय थी कि चार आश्रमों और चार वर्णों की दृढ़ नींव पर टिके समाज की एक-एक चूल हिल रही थी। छूआ-छूत ने समाज को हजारों भेदों में बांट रखा था। कन्याओं के जन्म लेते ही गला घोंट कर मार देने में और विधवाओं को जीते जी पृथ्वी में गाढ़ देने में कुल का गौरव समझा जाता था। पति के मर जाने पर सैंकड़ों अबलाओं को ढोल ढमाके के साथ आग की भेंट कर जबर्दस्ती सती कर देने को परमधर्म समझा जाता था।





देश में नाना सम्प्रदाय और अनेक मत-मतान्तर अपनी जड़ जमा चुके थे। वे ईर्ष्याद्वेष में इतने उलझे हुए थे कि किसी को भी देश और जाति की चिन्ता नहीं थी। धार्मिक क्षेत्र में पाखण्ड का बोलबाला था। पादरी लोग गरीबी की मार से पीड़ित नर-नारियों को तरह-तरह के प्रलोभन देकर ईसाई बना रहे थे, और मुल्ला-मौलवी उन्हें इस्लाम की दीक्षा दे रहे थे।

सर्वत्र अराजकता और अशान्ति के कारण भारत का वातावरण अन्धकार से आच्छन्न था।

निराश जनता इस अन्धकार को दूर करने वाली किसी दैवी ज्योति की ओर टकटकी लगाए थी। तभी भारत के पश्चिमी सीमान्त स्थित अरब सागर की चंचल लहरों से प्रक्षालित सौराष्ट्र (गुजरात) के भूभाग पर, मौरवी राज्य के टंकारा नामक नगर में, एक कुलीन ब्राह्मण के घर, सन् १८२४ में एक बालक ने जन्म लिया।

पिता धनाढ्य जमींदार थे और सरकार की ओर से राजस्व उगाहने के लिये अधिकारी नियुक्त थे। कभी बाहर जाते तो बरकन्दाज और सिपाही अंगरक्षक के रूप में उनके साथ चलते। माता सरल और स्नेहिल स्वभाव की धर्म-निष्ठ महिला थी। पिता कट्टर शैव थे और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। विवाह के लगभग १४ साल बाद यह बालक उनकी पहिली सन्तान थी। इस लिये बालक के जन्म लेने पर माता पिता ने अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिये सोने चांदी से तुला दान किया और देव-पूजन के साथ बड़े पैमाने पर ब्राह्मण-भोजन का आयोजन किया।

पिता का नाम था कर्शनजी लालजी तिवारी। वे सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे। कुल-परम्परा के अनुसार बालक के दो नाम रखे गये—मूलशंकर और दयाराम—जो लाड प्यार के सम्बोधन के अनुसार मूलजी और दयालजी कहलाये।

कौन जानता था कि यही बालक आगे चलकर महर्षि दयानन्द सरस्वती के नाम से वेद का और मानव जाति का उद्धारक बनेगा।

बालक मूलशंकर माता-पिता के प्रथम पुत्र थे। उनका हृदय प्रसन्नता से प्लावित रहता था। वे उसे वंश-वेल को चलाने वाला वृद्धावस्था में उनकी नैया को खेने वाला और कुल को चमकाने वाला समझ कर मन ही मन हर्ष विभोर रहते थे। उन्हें पता न था कि बालक उनका नहीं अपितु ईश्वर का वरद पुत्र था जो न केवल गुजरात प्रान्त को, भारतवर्ष को ही नहीं अपितु समस्त विश्व को चमकाने वाला बनेगा। उनके नाम को चमकाकर उन्हें अमर बनायेगा। माता-पिता और परिवार के लोगों को उनसे आशा थी कि वह दुनियादारी की उनकी आकांक्षाओं एवं महत्वाकांक्षाओं को पूरा करेगा। परन्तु विश्वात्मा को उससे अपना ही काम लेना था।



माता-पिता को यह पता भी न था कि यह बालक भगवान राम, योगीराज कृष्ण, महात्मा बुद्ध, आचार्य शंकर आदि महापुरुषों एवं सन्तों की परम्परा से सम्बद्ध है। जिसमें भगवान राम की कर्तव्य परायणता एवं सदाचार निष्ठा, महात्मा कृष्ण की राजनीतिमत्ता, धर्म एवं न्याय परायणता, महात्मा ईसा की परदुःखकातरता, (दीन-दुखियों, अपाहिजों और अनाथों के परित्राण) आदि आदि गुण मूर्तिमान होंगे। यही बालक आर्यत्व की रक्षा के लिये प्रातः स्मरणीय प्रताप शिवाजी, और गुरू गोविन्द सिंह का रूप धारण करेगा।

बालक मूलशंकर माता की प्रेममय गोद में पिता के प्यारपूर्ण हाथों में बंधु जनों के स्नेहविगलित लालन-पालन में शुक्लपक्ष से चन्द्रमा की कला की भांति दिनों दिन बढ़ने लगा।

पांच वर्ष की आयु में पिता ने बालक को गोद में बिठाकर अक्षर-ज्ञान कराया, बारहखड़ी सिखाई और गुजराती के साथ देवनागरी के अक्षरों से परिचय कराया।



जिस काल में टंकारा में बालक मूलशंकर का जन्म हुआ उस समय टंकारा बड़ौदा के सेठ गोपाल मघोल नारायण के अधिकार में था जिनके पास मौरवी नरेश ने इस कस्बे को गिरवी रखा हुआ था। यह सेठ शिव के परम भक्त थे। टंकारा तालुका लगभग ३० वर्ष तक इन सेठ के अधिकार में रहा फलतः उस इलाके में शैवमत ने पूर्णतः पैर जमा लिये थे।

उस समय टंकारा का वातावरण विविध मतों के अन्धकार से आच्छादित था। लोग वेदों, उपनिषदों आदि धर्मशास्त्रों को भूल गये थे। ब्राह्मण लोग गंगालहरी और गोपालसहस्रनाम आदि पुस्तकों को पढ़ते थे। शैवमत के साथ-साथ वल्लभाचार्य का वैष्णवमत और स्वामी नारायण मत भी गुजरात में काफी जड़ जमाए हुए थे।

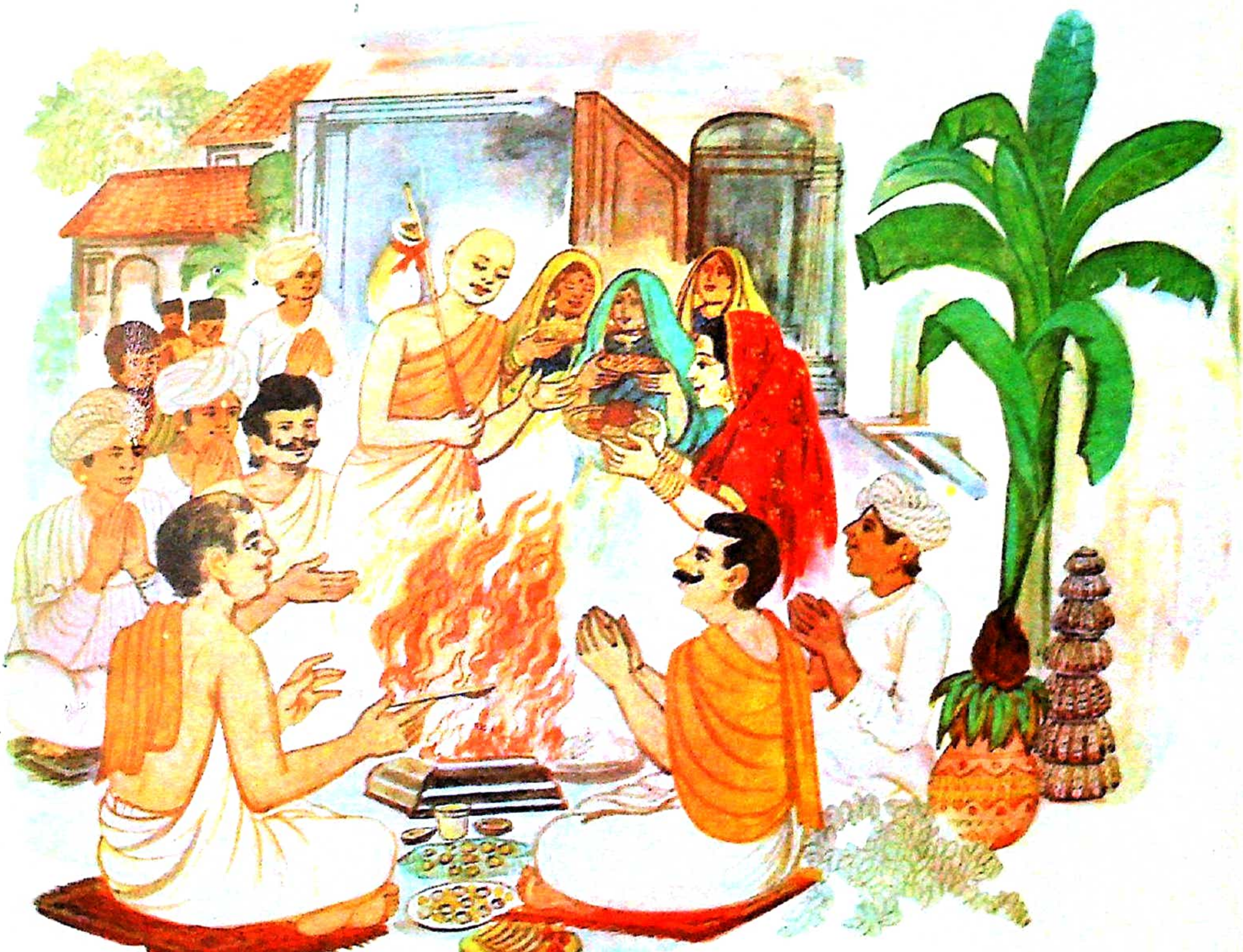
ब्राह्मण लोग और राजकर्मचारी शिव की पूजा करते थे, महाजन, भाटिया आदि वल्लभ के अनुयायी थे, कुंभी तथा अन्य निम्न वर्ग स्वामी नारायण मत के अनुयायी थे। गोसाईयों ने चरित्रहीनता से तमाम गुजरात में नैतिकता के बंधन ढीले कर रखे थे। स्वामी नारायण मत के महन्तों के लोभ तथा धन लिप्सा ने लोगों को क्षुद्र-मना बना दिया था। यादव राजपूतों में व्याप्त एक कन्यावध की अमानवीय दुष्प्रथा ने तमाम गुजरात प्रान्त को बदनाम कर रखा था।

स्वामी दयानन्द के जन्म के समय काठियावाड़ और टंकारा का कस्बा इसी प्रकार के राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक वातावरण से ओतप्रोत था। इसके अलावा प्रकृति की अनेक देन भी टंकारा को प्राप्त थी। गिरनार पर्वत, उसकी घाटियों और चोटियों के, काठियावाड के पैरोंका प्रक्षालन करने वाले समुद्र की गंभीरता एवं गरज के और प्रकृति के विशुद्ध सुन्दर एवं शक्तिशाली तत्वों की कमनीयता के कुछ अंश बालक मूलशंकर के शरीर आत्मा और अन्तः प्रेरणा में घर किये देख पड़ते थे।

टंकारा उस समय व्यापार का अच्छा केन्द्र था। प्रातः काल जब पनघट से पानी भर कर औरतें गलियों से गुजरतीं तो सुन्दर दृश्य होता। वहाँ जैनियों और मुसलमानों के साथ शैवों और वैष्णवों के भी काफी घर थे। कर्शनजी लालजी तिवारी ब्राह्मणों के मुखिया माने जाते थे।

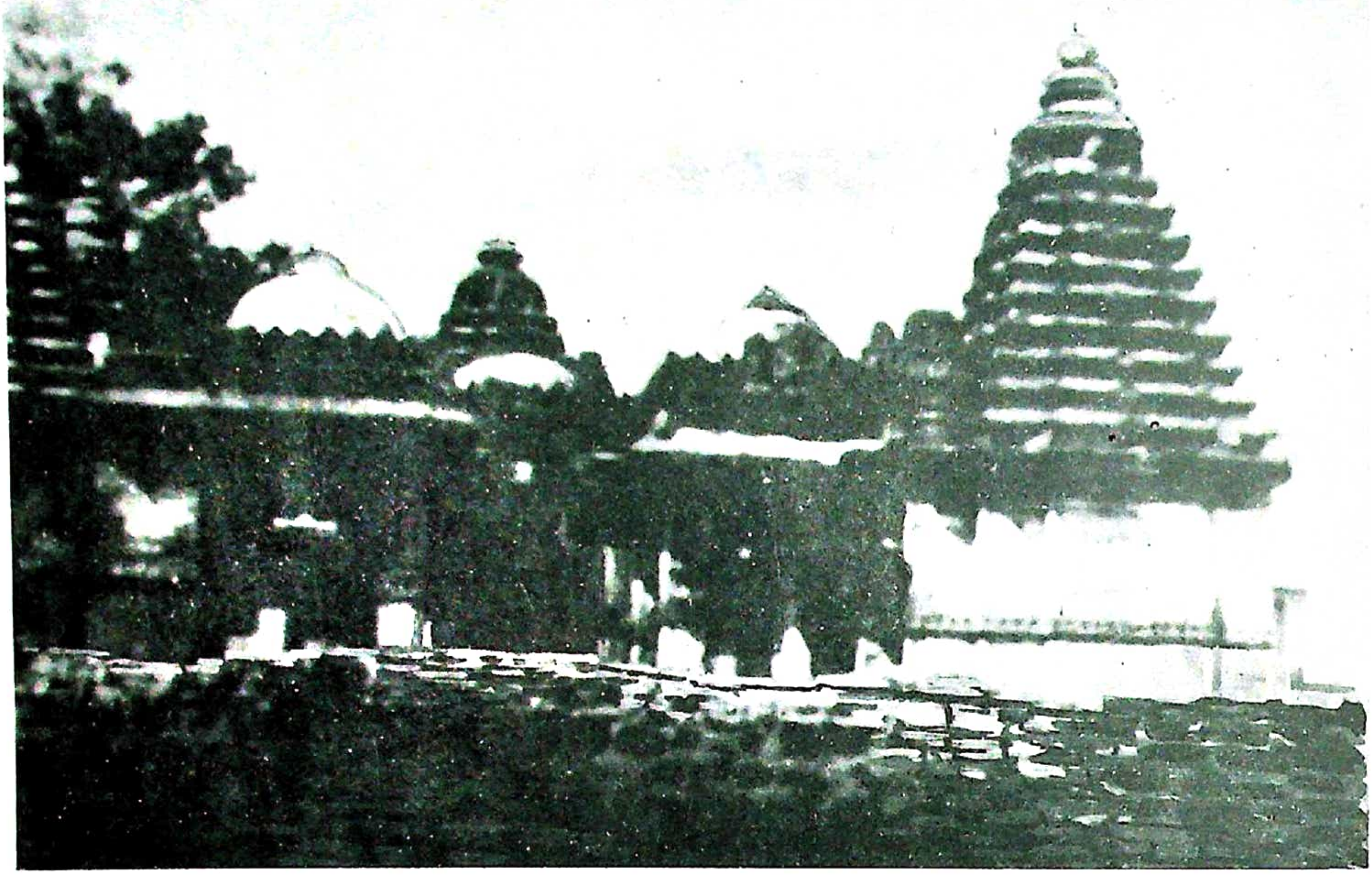


माता के वात्सल्य, पिता के अनुशासन-पूर्ण प्रेम तथा बन्धुजनों के स्नेह की छाया में बालक शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं के समान धीरे धीरे विकास को प्राप्त होता गया। वृद्ध जनों ने कुलाचार और कुल-रीति सिखाई और विद्यानुरागी वृद्ध जनों ने बहुत से स्तोत्र, मंत्र, श्लोक और उनकी टीकाएं कण्ठस्थ करा दीं। बालक मेधावी था और उसकी स्मरण शक्ति बहुत अच्छी थी। जो भी कुछ उसे सिखाया जाता, उसे वह बहुत शीघ्र ग्रहण कर लेता था। धीरे धीरे बालक में स्वंय विद्या के प्रति अनुराग पैदा हो गया। प्रातः काल अन्य कार्यों से निवृत होने के पश्चात वह नियमित रुप से पढ़ने और लिखने का अभ्यास करने लगा। वह एकान्त में बैठ कर घर में उपलब्ध धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने का प्रयत्न करता और अपनी बाल-बुद्धि के अनुसार उनको समझने का भी प्रयत्न करता।



आठ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार हुआ। उस समय अनेक वेदज्ञ ब्राह्मणों ने यज्ञ और वेद-पाठ किया। महिलाओं ने मंगल गान करते हुए बालक की झोली में भिक्षा डाली। सब ब्राह्मणों को अच्छी दक्षिणा दी गई। बालक को गायत्री-मन्त्र का उपदेश दिया गया।

पिता बालक को अपने समान ही धर्मनिष्ठ और शिवभक्त बनाना चाहते थे। इसलिए अल्प वय में ही बालक को सन्ध्या-उपासना की विधि सिखाकर रुद्राध्यायी तथा शुक्ल यजुर्वेद कण्ठस्थ करा दिया। शेष वेदों के भी चुने हुए अंश कण्ठस्थ करा दिए। साथ ही शिव का माहात्म्य बता कर शिव की पूजा करना भी सिखा दिया। अपनी सहज तीक्ष्ण बुद्धि के कारण बालक विद्यार्जन में क्षिप्रगति से आगे बढ़ने लगा।



नगर से बाहर नदी के तट पर एक विशाल शिवमन्दिर था जिसमें हर शिवरात्रि को विशाल जन-समुदाय एकत्र होकर पूजा किया करता था।

जब बालक मूलशंकर ने चौदहवें वर्ष में प्रवेश किया तो पिता ने शिव-चतुर्दशी का व्रत ग्रहण करने का आदेश दिया। व्रत-ग्रहण और उपवास कष्ट-साध्य कार्य है, इसलिए माता ने तथा अन्य बन्धु-बान्धवों ने उसका विरोध किया। पर पिता नहीं चाहते थे कि उपनयन संस्कार के पश्चात् धार्मिक कार्यों के अनुष्ठान में किसी भी प्रकार की ढील की जाए।

बालक ने भी उत्साह में आकर पिता से व्रत का सब विधि-विधान पूछा। पिता ने बताया कि रात को चार पहर तक जागते हुए चार बार पूजा करने से शिवजी स्वयं आकर दर्शन देंगे। बालक साक्षात् शिव का दर्शन करने की लालसा से सब कष्ट सहन करने को तैयार हो गया।

वही नदी-तट का शिव-मन्दिर। शिव के भक्तों की भीड़। रात का आलम। धीरे-धीरे अन्धकार बढ़ता गया, रात गहराती गई और भक्तजन एक-एक करके नींद की गोद में गिरते चले गए।

बालक मूलशंकर ने दिन-भर उपवास रखा था और सांयकाल होते ही पिता के साथ वह भी शिव-मन्दिर में आ गया था। रात की तारीकी बढ़ने के साथ जब भक्तों पर नींद ने हमला कर दिया, तब भी बालक जागता रहा।

प्रथम प्रहर में दूध के द्वारा, द्वितीय प्रहर में दही के द्वारा, तृतीय पहर में घृत के द्वारा और चतुर्थ पहर में मधु के द्वारा शिवलिंग के अभिषेक और अर्ध्यदान का विधान है। दूसरे पहर की पूजा विधिपूर्वक सम्पन्न करने के पश्चात् मन्दिर के पुजारी तथा व्रतधारी अन्य गृहस्थ भी मन्दिर के बाहर जाकर सो गए। मूलशंकर के पिता भी नींद के वशीभूत हो गए। पर चौदह वर्ष की कोमल वय के बालक मूलशंकर की आँखों में नींद कहाँ। उसने तो सुन रखा था कि व्रतधारी के लिए शिवरात्रि में सोना और व्रतभंग करना महापाप है। जब निद्रा का वेग अवसन्न करने लगता तो बालक अपनी आँखों पर जल के छींटे दे देकर प्रयत्न-पूर्वक जागता रहा। बालक मूलशंकर निरन्तर जागता ही रहा।

मन्दिर के अन्दर निस्तब्धता, मन्दिर के बाहर निस्तब्धता। देश के अशान्त वातावरण के प्रतीक घोर तिमिरावरण की वह महानिस्तब्धता जब मानवमन को आतंकित कर रही थी, तब चौदह वर्ष के बालक के मन में अकस्मात् उठे एक अभिनव प्रश्न ने अंधकार के उस आवरण में दरार पैदा कर दी।

घटना यों घटी। जब बालक मूलशंकर इस प्रकार अकेला जाग रहा था और शिव-दर्शन की लालसा से बिना पलक झपकाए एक टक शिवलिंग की ओर देख रहा था, तब कई चूहे बाहर निकल कर महादेव की पिण्डी पर उछल-कूद करने लगे और शिवजी के सिर पर चढ़ कर चावल तथा अन्य नैवेद्य खाने लगे।

बालक के मन में प्रश्न पैदा हुआ—दिन में शिव-पुराण की पुण्य-कथा में सुना था कि शिवजी त्रिपुरारि हैं, त्रिशूलधारी हैं, और दुर्दान्त-दैत्य-दलनकारी देवाधिदेव महादेव हैं, तो वे इतने अशक्त क्यों हो गए कि अपने सिर पर चढ़ कर धृष्टतापूर्वक नैवेद्य उड़ा जाने वाले इन मूषकों को भी प्रताड़ित नहीं कर सकते?

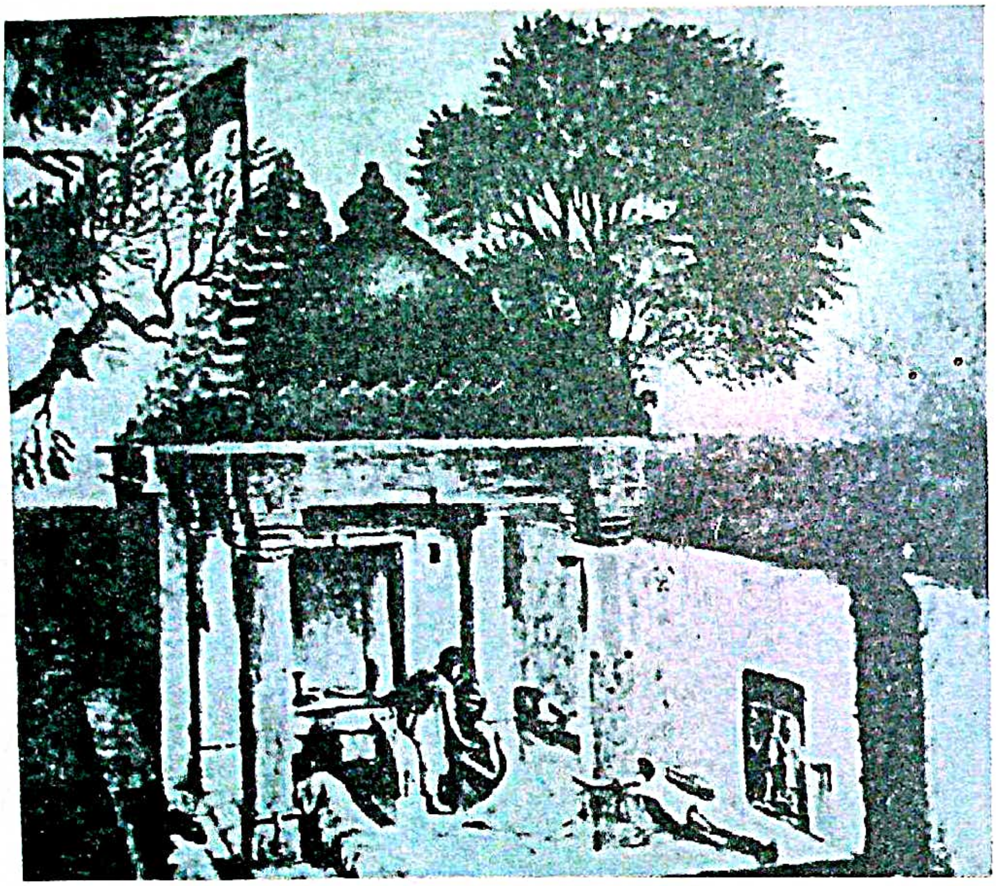
घटना नई नहीं थी। पर यह प्रश्न नया था। सैंकड़ों सालों से इसी प्रकार शिवलिंग पर चढ़ कर चूहे उत्पात करते और भोग-सामग्री का स्वयं भोग लगाते चले आ रहे थे, परन्तु अब तक किसी शिव-भक्त के मन में यह प्रश्न नहीं उठा था। इस अभिनव प्रश्न में मानव-जाति के जागरण का मूलमन्त्र छिपा था।

आखिर समस्त संसार का ज्ञान-विज्ञान क्या है? कुछ प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न ही तो है। मानव का जिज्ञासु मन कुछ प्रश्न पूछता है, और मानव की बुद्धि उन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करती है। प्रश्न और उत्तर की इस क्रमिक आवृत्ति से ही ज्ञान-विज्ञान के बन्द द्वार खुलते चले जाते हैं।

पर कोई नया प्रश्न करे तो?

उस शिवरात्रि के दिन बालक मूलशंकर के मन में उठे इस अभिनव प्रश्न ने मानव के लिए जड़ता से हटकर चेतनता की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।





बालक ने अपने सोते हुए पिता को जगाया और उनसे यही प्रश्न किया : 'जो महादेव प्रबल प्रतापी प्रसिद्ध हैं वे अपने सिर पर से इन थोड़े से उच्छृंखल चूहों को हटाने में समर्थ क्यों नहीं हुए ?

कर्शन जी इस अनोखे प्रश्न को सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। पहले बालक को धमकाया। फिर समझाया : "यह तो देवता नहीं, देवता की मूर्ति है।" पर सत्य के पिपासु को सत्य की प्रतिमूर्ति नहीं, शुद्ध सत्य चाहिए।

बालक ने कहा : "फिर मुझे देवता के दर्शन कब होंगे ?"

पिता ने गम्भीरता से कहा : "पुत्र ! इस कलिकाल में महादेव के साक्षात् दर्शन नहीं होते, इसलिए उस कैलाशवासी शिव की मूर्ति बनाकर प्राण-प्रतिष्ठापूर्वक उसका पूजन किया जाता है। इसी मूर्ति का श्रद्धापूर्वक पूजन करने से महादेव प्रसन्न होते हैं और अन्त में भक्त को दर्शन भी देते हैं।

कलि-काल में महादेव दर्शन नहीं देते और पूजन करने वाले भक्तों को दर्शन देते भी हैं—यह परस्पर विरोधी बात बालक को सन्तुष्ट नहीं कर सकी। बालक ने उसी क्षण मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि जब तक अप्रतिम शक्तिशाली त्रिशूलधारी यथार्थ शिव का दर्शन नहीं कर लूंगा, तब तक किसी भी प्रकार जड़ पाषाण की पूजा नहीं करूंगा।

पिता ने देखा कि शैव-धर्म की दीक्षा और उसके निमित व्रत का पालन तो दूर की बात है, पुत्र के मन में मूल वस्तु के प्रति ही अविश्वास उत्पन्न हो गया है, इसलिए अब इसे अधिक देर तक मंदिर में रखना व्यर्थ है।

रात्रि के तीसरे पहर के अन्धकार में तीन मील दूर घर तक पहुंचाने के लिए पिता ने मूलशंकर के साथ एक सिपाही को कर दिया और साथ ही यह ताकीद कर दी कि घर जाकर भी व्रत भंग मत करना।



शिवरात्रि का व्रत धारण करने वाले पुत्र को सिपाही के साथ माता ने शिवमन्दिर से वापस आया देखा तो ममता-पूर्वक बोली—"मैंने तो पहले ही कहा था कि उपवास का यह कष्ट तुझसे नहीं सहा जाएगा।"

माता ने समझा कि उपवास की पीड़ा असह्य हो जाने के कारण ही बालक घर आ गया है। मूलशंकर के मन में जो विचारों की क्रान्ति हो गई थी और अज्ञानान्धकार को चीरती हुई नई दिव्य ज्योति की किरण फूट पड़ी थी, उससे वह विचारी बेखबर थी। उसने प्रेम से मूल जी को अपने पास बिठाया और मिष्ठान्न आदि खाद्य पदार्थ लाकर सामने रख दिए। मूलजी भोजन करने लगे, तो मां ने पास बैठकर, अपने पति के स्वभाव को जानते हुए, मूल जी से कहा - "अब दो दिन तक तुम अपने पिता के सामने मत पड़ना, नहीं तो वे तुम्हारी ताड़ना करेंगे।"

बालक भोजन करके निश्चिन्त होकर सो गया।

कर्शन जी सूर्योदय के पश्चात् घर पहुँचे। जब उन्हें पता लगा कि पुत्र ने भोजन करके व्रत भंग कर दिया है, तो उन्हें क्रोध आया और उन्होंने बार-बार मूल जी से कहा—"तू ने व्रत भंग करके महापाप किया है। अब शिव जी तुझ पर प्रसन्न नहीं होंगे।" पिता अपने विश्वास पर अटल थे। उधर बालक भी अपने विश्वास पर अटल था कि जब पाषाण की मूर्ति असली शिव नहीं है, तब उसकी पूजा या उसके निमित्त उपवास का भी कोइ अर्थ नहीं है।

धर्मनिष्ठ पिता ने अपने पुत्र के व्रतभंग के प्रायश्चित्त-स्वरूप ब्राह्मण-भोज कराया और पुराणों की कथा कराई। उसके बाद बालक को अधिक से अधिक विद्या ग्रहण करने में समर्थ बनाने के लिए ज्योतिष, व्याकरण, छन्द निरुक्त आदि सिखाने के लिए अलग-अलग पण्डित नियुक्त कर दिए। किशोर मूलशंकर ने भी विद्याग्रहण में अपना मन लगाया।



लगभग ५ वर्ष बाद मूलजी के जीवन में एक और घटना घटी जिसने उनके मन को पुन : आंदोलित कर दिया।

एक दिन रात के समय मूलजी अपने अन्य पारिवारिक जनों के साथ पड़ौस में कोई लोकरंजनकारी कार्यक्रम देख रहे थे कि सेवक ने हांफते हुए आकर सूचना दी कि तुम्हारी छोटी बहिन अचानक सांघातिक रोग से ग्रस्त हो गई है।

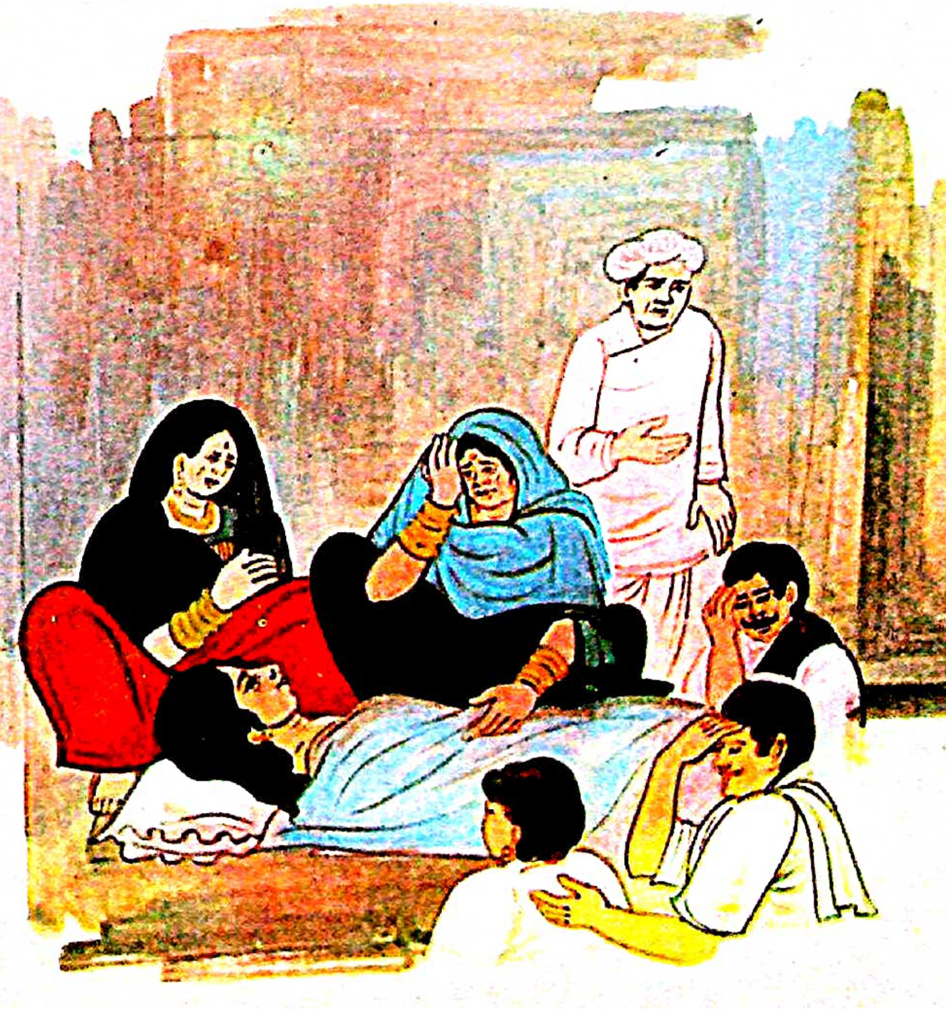
रोगी बहन की चिकित्सा के लिए सभी उपाय किए गए। सारा परिवार उसकी सेवा-शुश्रूषा में लग गया। परन्तु दो घंटे के अन्दर वह कराल-काल का ग्रास बन गई।

सारा परिवार शोकमग्न हो गया। माता-पिता तथा अन्य निकट सम्बन्धियों की आंखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। जब स्वजन और बन्धु-बान्धव करुण-क्रन्दन कर रहे थे, तब किशोरावस्था की देहली को पार करता हुआ मूलशंकर जड़वत् दीवार से लगा खड़ा था। जीवन में यह उसका प्रथम मृत्युदर्शन था। शोक के प्रबल आघात ने उसे इतना स्तब्ध कर दिया कि उसकी आंख से आंसू की बूंद तक नहीं निकली, पर हृदय में ज्वारभाटे की सी उथल पुथल प्रारम्भ हो गई

उसने सोचा, क्या पृथ्वी पर सबको इसी तरह एक न एक दिन मरना है ? मैं भी मरूंगा ? क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे मृत्यु की इस विभीषिका से और आवागमन के चक्कर से छुटकारा मिल सके ? उसने वहीं खड़े-खड़े संकल्प किया कि मैं मृत्यु-क्लेश से मुक्ति का उपाय खोज कर छोड़ूंगा, इसके लिए चाहे मुझे कितनी ही कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़े।

कुछ ही दिनों बाद मूलशंकर के चाचा का भी देहावसान हो गया। चाचा बहुत सज्जन, अच्छे विद्याव्यसनी पण्डित और मूलजी से अत्यन्त स्नेह करने वाले थे। मूलजी ने सोचा – संसार की सारी वस्तुएं जब इतनी अस्थिर और नाशवान् हैं, कमल के पत्ते पर पड़ी पानी की बूंद के समान चंचल हैं, तब सामान्य सांसारिक जनों की तरह शरीर-धारण का प्रयोजन ही क्या है ?

शोक के इस दूसरे आघात ने मूलजी के मन में जहाँ वैराग्य की भावना को दृढ़ कर दिया, वहां मानसिक संकल्प को भी और दृढ़ कर दिया।





जिस तरह कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ एक अशक्त रोगी को, बुढ़ापे के कारण जर्जरित काया वाले एक वृद्ध को, और श्मशान-यात्रा के लिए ले जाए जाते एक शव को देखकर संसार से इतने विरक्त हो गए कि राजपाट और स्त्री तथा पुत्र के मोह को छोड़कर गृहत्याग करके चल दिए निर्वाण मार्ग की खोज में, ठीक उसी प्रकार सद्यः यौवनारूढ़ मूलशंकर के मन में भी सांसारिक सम्बन्धों के स्नेह-पाश को तोड़कर गृहत्याग की बात घर करती ही चली गई।

मूलशंकर ने अपने मन का भाव किसी पर प्रकट नहीं होने दिया। पर उनके हाव भाव और बोलचाल में यह वृत्ति प्रकट हुए बिना कैसे रह सकती थी। एक दिन अपनी मित्र-मण्डली में जब उन्होंने संसार की असारता और मुक्ति-पद की जिज्ञासा की चर्चा की तो उनके माता-पिता को भी यह बात पता लग गई।

वैराग्यवान् वीरों को सांसारिक बन्धन में बांधने के लिए विवाह को ही सर्वोतम साधन समझा जाता है। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। विवाह हुआ और मोह-माया-ममता ने उस व्यक्ति को जकड़ लिया। मूलशंकर के माता-पिता ने भी वही परम्परागत ब्रह्मास्त्र आजमाने का निश्चय किया।

मूलशंकर बीसवें वर्ष में प्रवेश कर रहे थे। मोहाच्छन्न व्यक्ति यह नहीं समझ सकते कि सच्चे वैराग्य की भावना को विवाह का प्रलोभन नहीं मिटा सकता। विवाह का कालकूट अन्य सब स्थानों पर कारगर हो सकता है, पर वैराग्य की मृत्युंजयी शक्ति के सामने वह भी व्यर्थ हो जाता है।

मूलशंकर ने गृहत्याग का सुयोग पाने के लिए अपने पिता से कहा : "मुझे विद्या पढ़ने के लिए काशी भेज दीजिए।" कर्शन जी जानते थे कि मूलजी के मन में वैराग्य की अग्निशिखा प्रदीप्त हो चुकी है, इसलिए वह गृहत्याग का अवसर ढूंढ रहा है। उन्होंने पुत्र से कहा : "जितनी विद्या तुम पढ़ चुके हो, उतनी ही बहुत है। अधिक पढ़ कर क्या करोगे। तुम यहीं हमारा कारोबार देखो। अभी हम तुम्हारी सगाई कर देते हैं और वर्ष की समाप्ति तक तुम्हारा विवाह कर देंगे। हम तुम्हें काशी नहीं भेजेंगे।"

मूलजी चिन्ताग्रस्त हो गए। उन्होंने अपने पिता से कहा—"यदि आप काशी नहीं भेजते तो अमुक ग्राम में एक सुयोग्य पण्डित रहते हैं, मुझे वहीं जाकर पढ़ने की अनुमति दे दीजिए।"

इस पर पिता सहमत हो गए।

इधर मूलजी ने अपने मित्रों के सामने अपने हृदय का यह सर्वोपरि संकल्प व्यक्त किया कि मेरी विवाह करने की इच्छा बिल्कुल नहीं है, इसलिए अभी वाग्दान न किया जाए। जब किसी सूत्र से कर्शन जी को यह बात पता लगी, तब उन्होंने तुरन्त मूलजी को अपने पास बुलाया और गम्भीर होकर कहा : "यह मैं क्या सुन रहा हूं ?"

मूल जी ने कहा : "जो कुछ आप सुन रहे हैं, ठीक ही सुन रहे हैं। मैं विवाह नहीं करूंगा।"

कर्शन जी अपने पुत्र की और सब बातें सुन सकते थे, पर विवाह न करने की बात नहीं सुन सकते थे। यह बात उनके लिए असह्य थी। उधर माता ने अपने पुत्र का जब यह निश्चय सुना, तब उसने भी शोकाकुल होकर अपना सिर पीट लिया।

मूलजी ने शान्त भाव से अपने माता-पिता से कहा—"मैं विवाह नहीं करूगा। मेरा एक और भाई है। आप लोग उसका विवाह करके उससे वंश चलाने की आशा रखिए। घर में रहना मेरे लिए कठिन है। मैं तो योगियों की खोज करके योगाभ्यास करूगा।

मूलजी के गुरू ने कर्शन जी से कहा—"आप लोग लड़के पर कड़ी निगरानी रखें। धीरे-धीरे इसकी बुद्धि ठिकाने आ जाएगी।"

कशनजी ने मूलशंकर की निगरानी रखने के लिए एक रक्षक नियुक्त कर दिया।

माता ने मूलशंकर के मन को पिघलाने के लिए, जिस लड़की से विवाह की चर्चा चल रही थी, उसे और उसकी मां दोनों को मूल जी के सम्मुख बुलवा लिया। उन्होंने मूल जी को कुछ आभूषण उपहार में दिए। मूल जी ने वे आभूषण वापिस करते हुए कहा —"आप लोग मेरे जीवन की साधना में बाधा मत डालिए, बल्कि मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मेरा जीवन-व्रत पूरा हो।

कर्शन जी के घर में विवाह की तैयारियां और जोर शोर से प्रारम्भ हो गई। उसी प्रबल आवेग से मलशंकर का मन गृहत्याग के लिए उद्विग्न रहने लगा। इस समय मूल जी बाईसवें वर्ष में प्रवेश कर रहे थे। तीन वर्ष पहले मूल जी के मन में जो वैराग्य-वृद्धि धूम्रमाला के रूप में अवतीर्ण हुई थी, अब वह प्रचण्ड ज्वाला के रूप में फूट पड़ी।

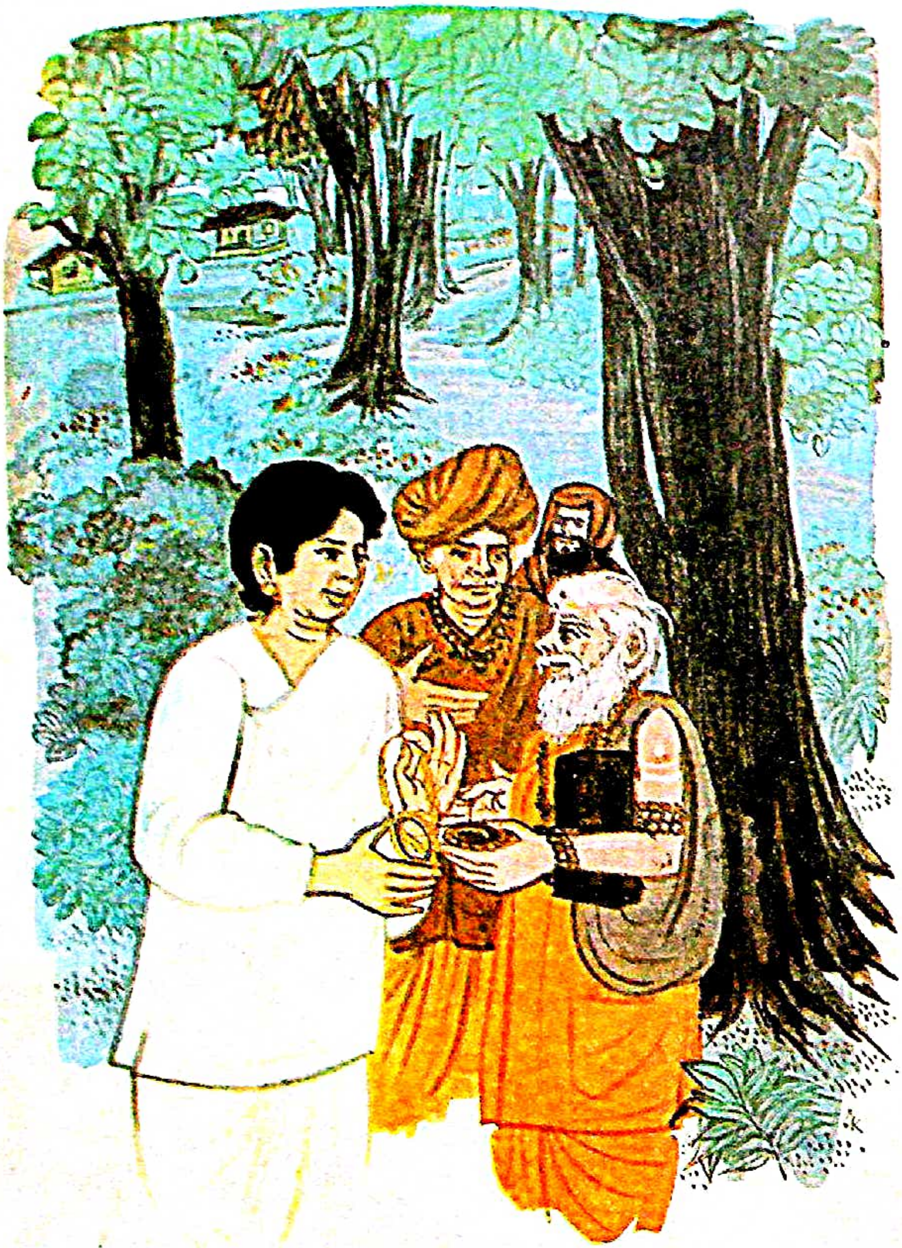
मूलशंकर ने सन १८४६ में, विवाहोत्सव की तैयारियों में मग्न-धन-धान्यपूर्ण गृह को, माता-पिता के पूर्ण प्रेम को, स्वजन सम्बन्धियों के सरस स्नेह को, और सबसे बढ़कर उद्यम यौवन के सम्मुख खड़े विकसित वसन्त को तिलांजलि दे दी। रात्रि के उस सुनसान प्रथम पहर में गृहत्याग करते हुए उनके मन में क्या क्या भाव उठ रहे होंगे, इसे या तो दयानन्द की आत्मा जाने, या परमात्मा जाने।

मूलशंकर ने पहली रात्रि टंकारा से कोई ६ कोस की दूरी पर व्यतीत की। रात का एक पहर बाकी बचा था कि फिर अगली यात्रा के लिए सन्नद्ध हो गए और सांयकाल होने से पहले २० मील दूर पहुंच कर एक ग्राम में विश्राम किया।

उधर जब माता-पिता को पता चला कि मूलजी घर छोड़कर अचानक कहीं चले गए, तो उन पर जैसे वज्रपात हो गया। विवाह सम्बन्धी सारा ठाठ-बाठ गहरी उदासी में बदल गया। चारों ओर खोज के लिए सिपाही दौड़ाए गए।

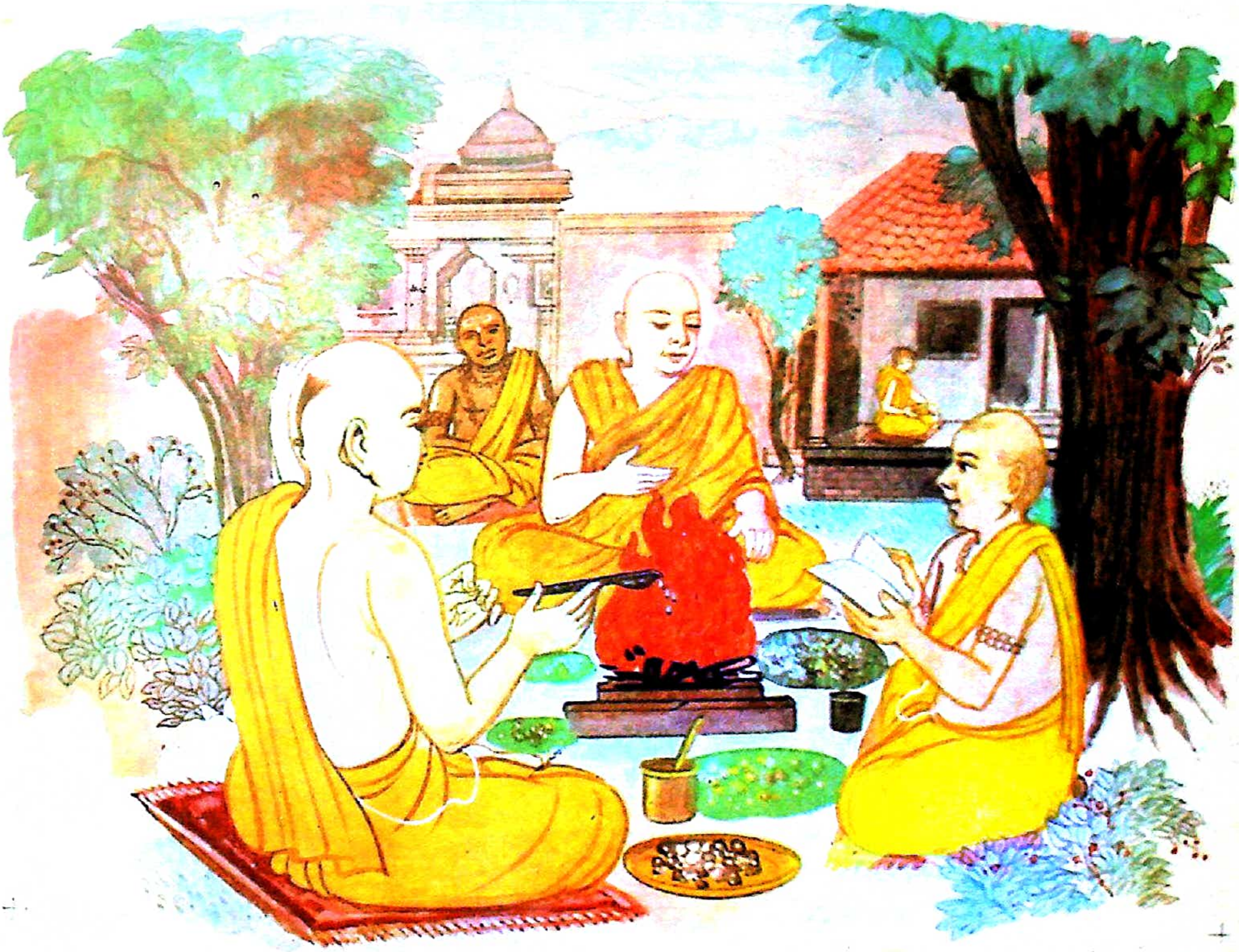
मार्ग में किसी राजपुरूष से पता लगा कि कर्शन जी के पुत्र की खोज में प्यादे यहाँ तक आए थे, तब जिन ग्रामों में पहचाने जाने की आशंका थी, उनसे बच कर अप्रचलित रास्तों से चलते हुए मूलशंकर ने अपनी यात्रा जारी रखी।





मार्ग में वैरागियों की एक टोली मिली। मूलशंकर के रेशमी वस्त्रों को और हाथों की अंगूठियों को देखकर वे मजाक करते हुए कहने लगे—देखो त्यागी बनने चला है, पर जेवरों का और रेशमी वस्त्रों का मोह तो छुटता नहीं। फिर मूलशंकर से बोले : "मूर्ति पर यदि आभूषण चढ़ा दोगे तो तुम्हें दो लाभ होंगे—देवता की अराधना से पुण्य की प्राप्ति और सर्वस्व त्याग से वैराग्य की सिद्धि।"

उन कपट वेशधारी वैरागियों को अपनी अंगूठियां तथा अन्य आभूषण सौंपकर मूलशंकर अपनी यात्रा पर आगे बढ़ गए।

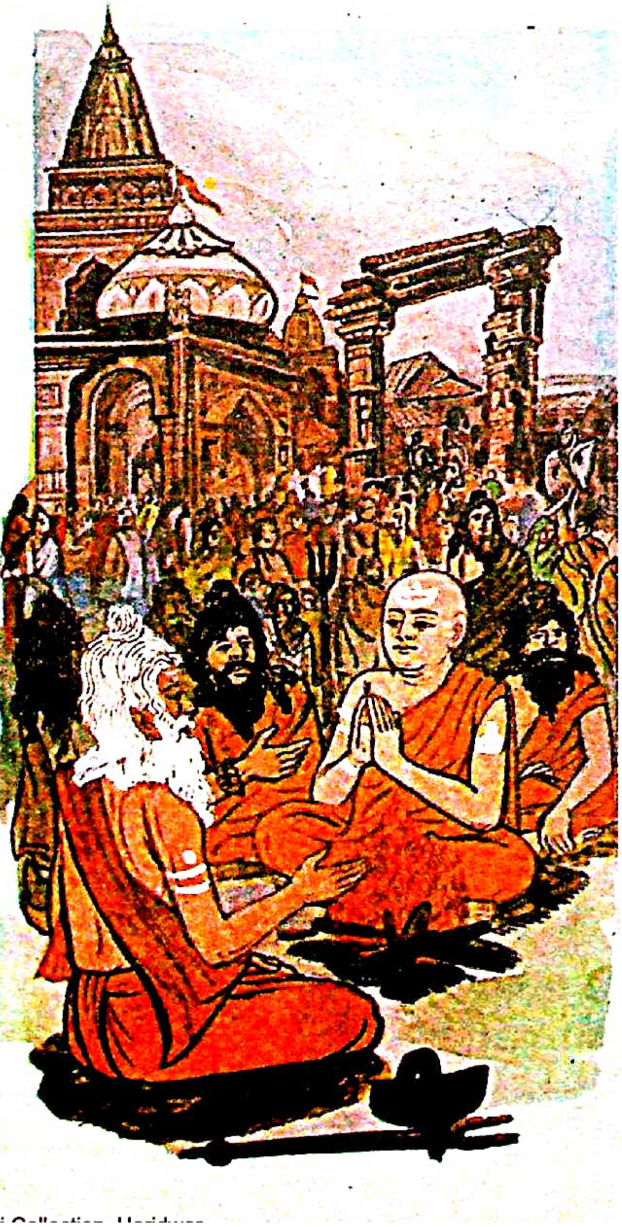


मूल जी ने अनेक लोगों से सुना कि शैला ग्राम में एक लाला भक्त नाम का योगी रहता है। वहाँ और भी बहुत से साधु-महात्मा रहते हैं शायद यहाँ मन की इच्छा पूरी हो और कोई सच्चा योगी मिल जाए, यह सोच मूलजी वहाँ पहुंच गए। लाला भक्त से उन्होंने योगाभ्यास सिखाने की प्रार्थना की।



शैला के मठ में रहकर शुद्धचैतन्य तीन मास तक योगाभ्यास करते रहे। वहाँ अनेक साधु-महात्माओं के साथ भी उनका सत्संग चलता रहा। परतु आश्रम के निवासियों का सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह देख कर शुद्धचैतन्य को यहां से विरक्ति हो गई।

मठ में उसका परिचय एक ब्रह्मचारी से हुआ। उसने उनको नैस्ठिक ब्रह्मचारी बन जाने की सलाह दी। मूलजी इससे सहमत हो गए। उसने मूलजी को ब्रह्मचर्या-श्रम की दीक्षा देकर उनका नाम शुद्ध चैतन्य रख दिया। अब ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य योग विद्या का पक्का जिज्ञासु बन गया। जहां से भी योग विद्या का अर्थ मिलता उसको तत्परता से ग्रहण करने को सदा उत्सुक रहने लगा।



शुद्धचैतन्य ने सुना कि कार्तिक में सिद्धपुर का जबर्दस्त मेला होने वाला है। शायद वहीं किसी सिद्ध महात्मा के दर्शन हो जाएं। शुद्धचैतन्य सिद्धपुर की ओर चल दिए।

एक वैरागी से भेंट हुई जो टंकारा के पास ही किसी ग्राम का निवासी था और शुद्धचैतन्य तथा उसके परिवार से अच्छी तरह परिचित था। दोनों ही एक दूसरे को देखकर विस्मित हुए। चिरकाल के पश्चात सुपरिचित स्नेही व्यक्ति को देखकर दोनों ही भाव-विभोर हो गए। उस वैरागी ने शुद्धचैतन्य के गृहत्याग का और ब्रह्मचर्य वेष-धारण का कारण पूछा। शुद्धचैतन्य ने निष्कपट भाव से सारी कथा कह सुनाई।

वैरागी ने शुद्धचैतन्य के गृहत्याग की और काषाय वस्त्र धारण की आलोचना की। फिर पूछा—"क्या अब तुम घर नहीं जाओगे?"

→

"नहीं, मैंने सदा के लिए घर छोड़ दिया है अब मैं साधुमहात्माओं की खोज में सिद्धपुर जा रहा हूं" यह कहकर शुद्धचैतन्य उस वैरागी से अलग हो गए।

उस वैरागी ने, जो अच्छी तरह जानता था कि जवान बेटे के घर से निकल जाने से उसके माता-पिता कितने परेशान है एक पत्र द्वारा सारी कथा कर्शन जी को लिख दी और यह भी लिख दिया कि इस समय मूल जी ब्रह्चारी के वेष में सिद्धपुर के मेले में गए हैं।

पिता चार सिपाहियों को साथ लेकर सिद्धपुर पहुंच गए और मेले में घूम घूम कर मूल जी की खोज करने लगे।

एक दिन सवेरे कर्शन जी अकस्मात् एक शिवालय में पहुंचे। काषायवस्त्रधारी पुत्र को साधुओं के घेरे में बैठे देखा सिपाहियों समेत कर्शन जी मूलजी के सामने जाकर खड़े हो गए और अपने पुत्र को भला-बुरा कहने लगे।

शुद्धचैतन्य ने वक्त की नजाकत को समझा और आसन से उठ कर पिता के दोंनों चरण पकड़ लिए। विनयपूर्वक कहा : "मुझसे भूल हुई। मैं धूर्त लोंगों के बहकाने से गृहत्याग कर बैठा। मैंने बहुत दुःख उठाए हैं। मेरी गलती क्षमा कर दीजिए। मैं तो यहाँ से स्वयं ही घर आने की सोच रहा था। अच्छा हुआ, जो आप आ गए। अब आप जैसा आदेश देंगे वैसा ही करूंगा।"

मूलजी के इस व्यवहार से पिता के क्रोध पर कुछ छींटे तो पड़े, पर उनका क्रोध पूरी तरह शान्त नहीं हुआ। उन्होंने शुद्धचैतन्य का भगवा चोला फाड़ दिया, उसके स्थान पर श्वेत वस्त्र पहनाए और अपने डेरे पर ले जाकर कहा—"तेरे वियोग के कारण तेरी माता रो रोकर अधमरी हो गई है और तू ऐसा कठोर हृदय है कि मातृहत्या करने पर उतारू है।" पुत्र ने अनुनयपूर्वक कहा—"अब आप निश्चिन्त हो जाइए। मैं आपके संग चलकर माता जी के दर्शन करूंगा।

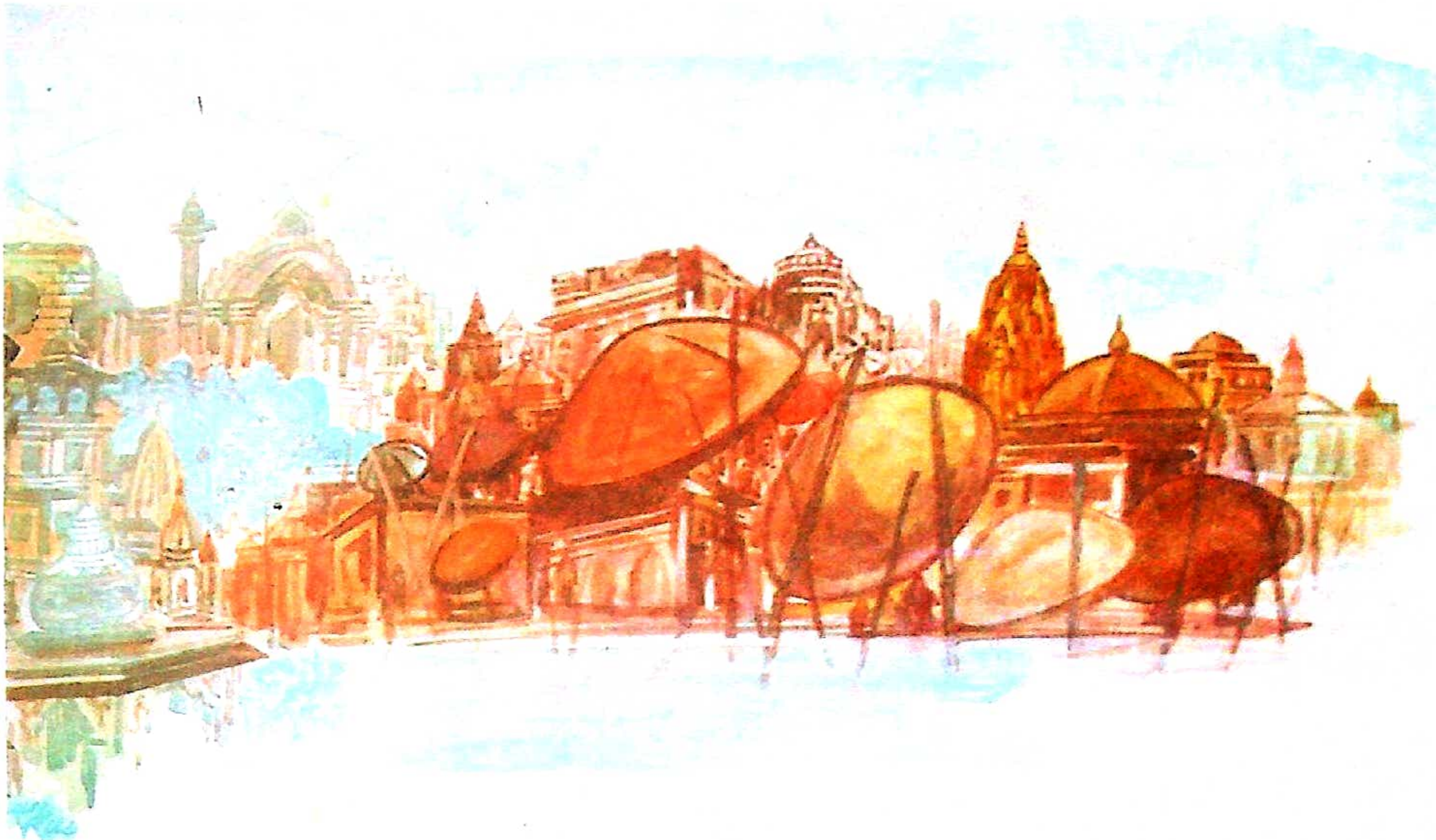
पर कर्शन जी निश्चिन्त नहीं हुए। पुत्र पर कड़ा पहरा लगा दिया और सिपाहियों से कहा—"इसे एक क्षण के लिए भी अकेला मत छोड़ना, न इसे अकेले कहीं जाने देना।"





इस प्रकार पिता के कारागार में पड़े पड़े दो दिन ग्रौर दो रातें बीत गई। ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य लगातार इस ताक में रहे कि मौका मिलते ही इस बंधन से निकल भागें। उधर पिता को ग्राश्वस्त भी करते रहे। तीसरा दिन भी ज्यों ज्यों करके बीता। तीसरी रात ग्राई। शुद्धचैतन्य के लिए एक एक पल भारी हो रहा था। बिस्तर पर लेटे हुए ग्रवश्य थे, ग्रौर देखने वालों को सोते हुए दिखाई देते थे, पर शुद्धचैतन्य निरंतर चैतन्य, बाहर से सोए, भीतर से जागते हुए।

तीसरी रात्रि का भी ग्राधा भाग बीत गया। पहरेदार ऊंघने लगे। धीरे-धीरे पहरेदार गाढ़ी निद्रा में मग्न हो गए। तब शुद्धचैतन्य को लगा कि ग्रब ग्रनुकूल ग्रवसर ग्राया है। हाथ में जल से भरा एक लोटा लिया, जिससे पकड़े जाने पर शौच जाने का बहाना बनाया जा सके, ग्रौर वे पिता के बंधन से निकल कर भागते चले गए। जब सिद्धपुर से ग्राधा कोस निकल ग्राए तो एक बाग के पुराने मंदिर के पास वटवृक्ष की जटाग्रों के सहारे चढ कर मंदिर के गुम्बद के पीछे छिपकर बैठ गए।



इधर जब पहरेदारों को और कर्शन जी को पता लगा कि पंछी पिंजरे में से निकल गया, तो उनके हाथों के तोते उड़ गये फिर हलचल मची, चारों ओर खोज हुई। जहाँ शुद्धचैतन्य छिपे बैठे थे, उस बाग में भी ढूंढने वाले पहुँचे। पर शुद्धचैतन्य बिना हिले-डुले सांस साधे ऐसे छिपकर बैठे रहे कि उन्हें कोई नहीं देख पाया। ढूंढने वाले निराश होकर वापिस चले गए। शुद्धचैतन्य अगले दिन भी दिनभर वहीं भूखे-प्यासे छिपे बैठे रहे। जब सूर्यास्त हो गया तब वहां से उतरे और अपनी मंजिल पर आगे बढ लिए।

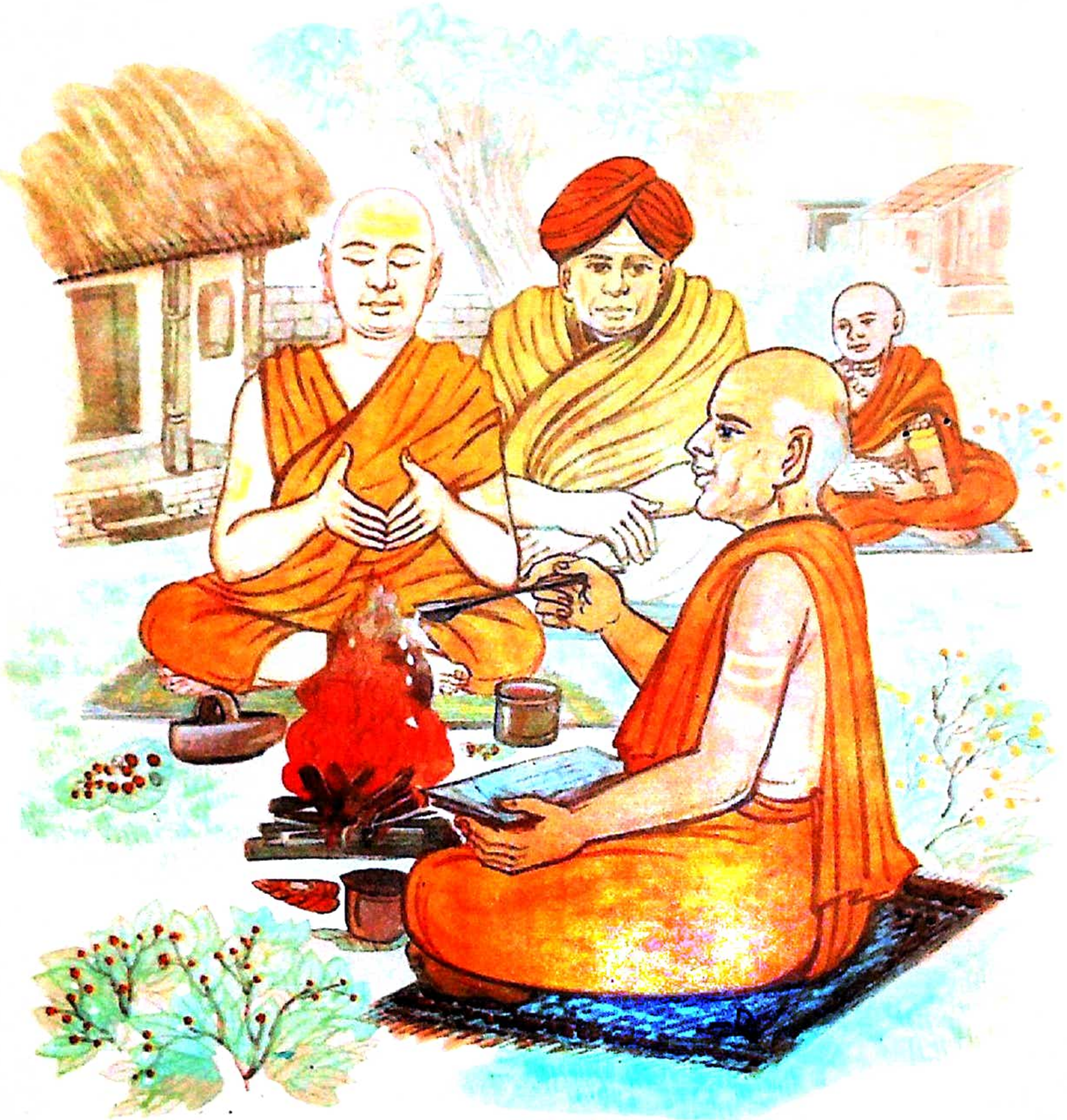
सिद्धपुर के मेले में हुई यह भेंट पिता और पुत्र की अंतिम भेंट थी।

कहाँ है मंज़िल ?

जिस तरह कर्मयोग के साक्षात् आदर्शस्वरूप मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम दण्डकारण्य में विचरते हुए दूर या समीप जहां कहीं किसी ऋषि-मुनि का आश्रम सुनते, सत्संग की इच्छा से वहीं पहुंच जाते, उसी प्रकार अमर जीवन का जिज्ञासु ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य भी योगी महात्माओं की खोज में न जाने कहां-कहां भटका, अहमदाबाद गया, बड़ौदा गया। फिर नगरों से निराश होकर वह चाणोद कर्णाली पहुंच गया।

वहां कई विद्वान् सन्यासियों से और सुयोग्य ब्रह्मचारियों से भेंट हुई।

शुद्धचैतन्य ने निर्द्वन्द्व होकर विचरने और अपना पूरा समय विद्याध्ययन में लगाने के लिए संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने का संकल्प किया। ब्रह्मचर्यावस्था में अपना भोजन स्वयं पकाया करते थे, जिसमें काफी समय निकल जाता था। संन्यासी बन जाने से स्वयं पकाने का झंझट छूट जाता।



एक दाक्षिणात्य साधु के सामने उन्होंने संन्यासी बनने की इच्छा प्रकट की। वह साधु इस युवावस्था में शुद्धचैतन्य को संन्यास की दीक्षा देने को तैयार नहीं हुआ।

पर शुद्धचैतन्य निराश नहीं हुए।

इस बीच वे अनेक तीर्थों, मठों और आश्रमों में घूमते रहे।

कई मास बाद शुद्धचैतन्य का इस भ्रमण काल में ही दो विरक्त पुरुषों से सम्पर्क हुआ। इनमें से एक ब्रह्मचारी था और दूसरा वृद्ध संन्यासी। इन दोनों के साथ शुद्धचैतन्य ने ब्रह्मविद्या सम्बन्धी चर्चा प्रारम्भ की। इस चर्चा से शुद्धचैतन्य समझ गए कि दोनों प्रगाढ़ पण्डित हैं। वे दोनों शंकराचार्य द्वारा स्थापित दक्षिण भारत के शृंगेरी मठ से द्वारिका की ओर जा रहे थे। वे भी शुद्धचैतन्य की जिज्ञासु वृत्ति, दृढ़ संकल्प और विनयशीलता से प्रभावित हुए। जब शुद्धचैतन्य ने संन्यासी बनने की इच्छा प्रकट की, तब पहले तो वे आनाकानी करते रहे, पर अन्त में सुयोग्य पात्र देखकर संन्यास की दीक्षा देने को तैयार हो गए।

अब शुद्धचैतन्य हो गए दयानन्द सरस्वती। हाथ में दण्ड और कमण्डल सुशोभित हो उठे। सत्य की खोज के लिए आगे जो दुर्गम और कण्टकाकीर्ण मार्ग तय करना था उसकी पूरी तैयारी हो गई।



सत्य की उपासना का मार्ग सचमुच बड़ा कठिन है। 'जो घर जारै आपनो चलै हमारे साथ'—कबीर की यह उक्ति सत्यान्वेषी के लिए पूर्णतः चरितार्थ होती है। मूल जी घर बार पहले ही छोड़ चुके थे। अब अपने शरीर के प्रति भी ममत्व त्याग दिया।

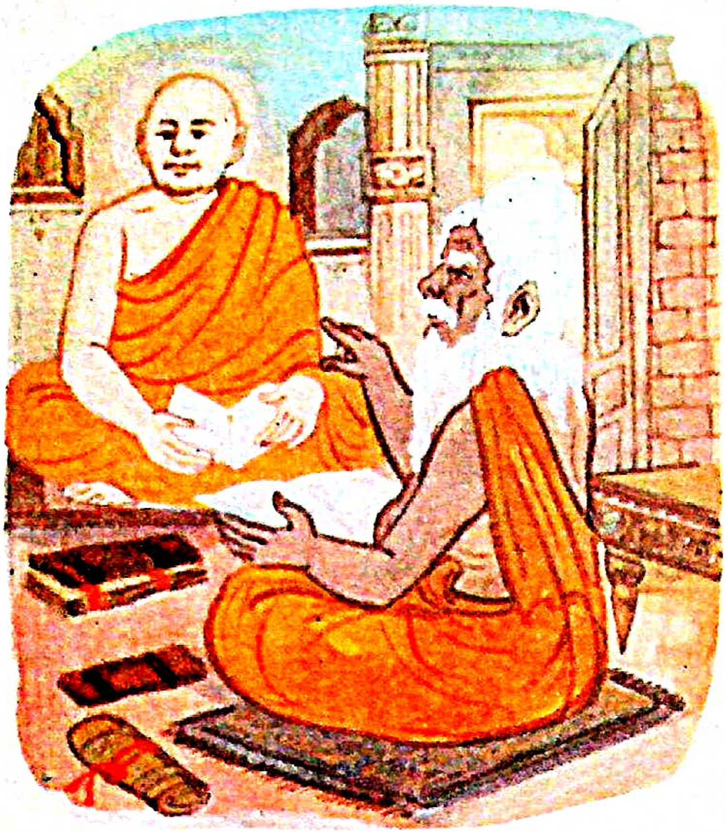
स्वामी पूर्णानन्द ने चतुर्थ आश्रम की मर्यादा की रक्षा के लिए जिन नियमों और जप-तप आदि का उपदेश दिया उनका विधिवत् पालन करते रहे।

शिष्य दयानन्द कई दिन तक गुरुचरणों में बैठकर बड़ी विनम्रता से ब्रह्मविद्या के ग्रन्थ पढ़ते रहे। उन्होंने गुरु आदेश के अनुसार विद्या साधना में विघ्नकारी जानकर दण्ड का विसर्जन कर दिया। गुरु पूर्णानन्द जा कुछ दिन चाणोद में ठहरकर जब द्वारिका के लिये प्रस्थान करने लगे तो उनके नूतन शिष्य दयानन्द ने भक्तिभाव से गुरुचरणों में प्रणाम किया। दयानन्द पीछे चाणोद में ठहरकर विद्याध्ययन एवं साधना में तल्लीन रहे।

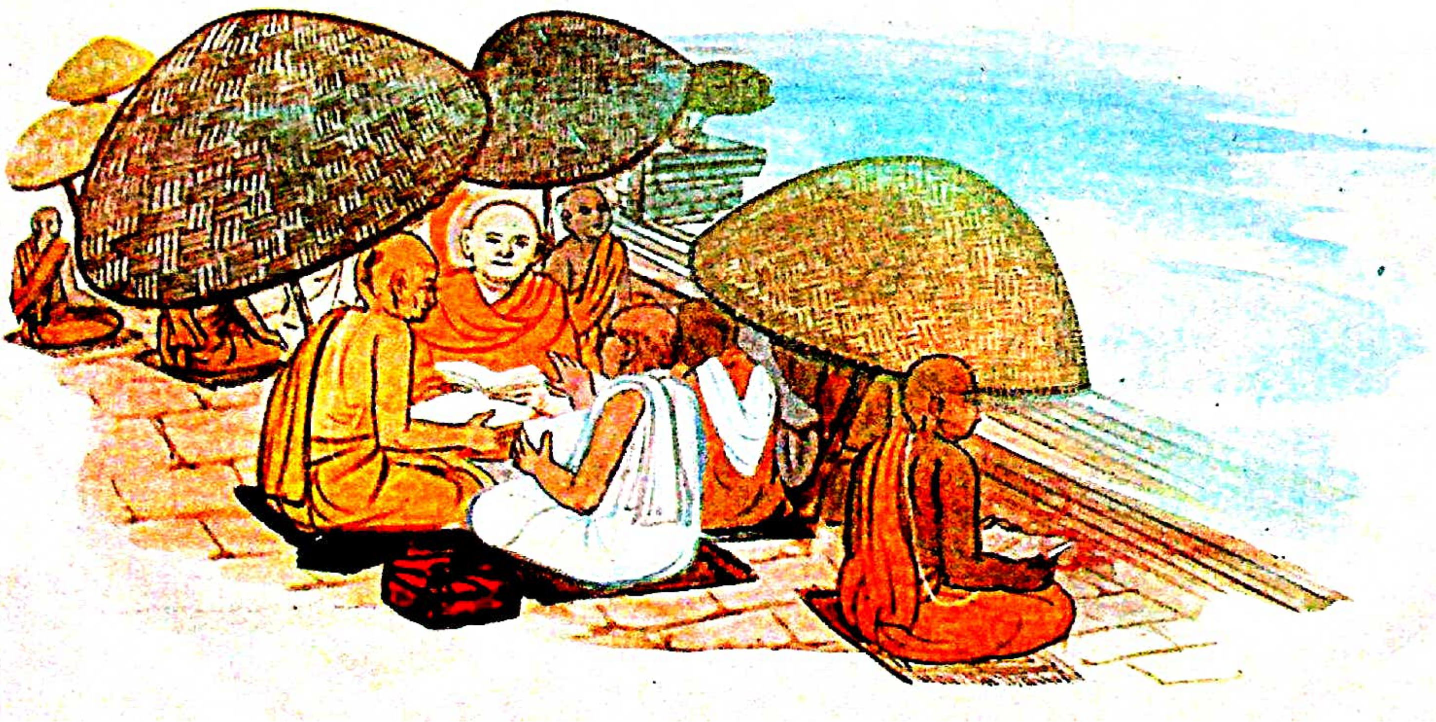
कभी एकान्त में ध्यान लगाते, योगाभ्यास करते। कभी किसी शास्त्र-विशेष के पण्डित की प्रसिद्धि सुनकर उसके पास जाकर उस शास्त्र का गहन अध्ययन करते। कभी किसी साधु के पास जाकर शंका-समाधान करते और कभी किसी तीर्थस्थान पर जाकर वहां अन्य साधुओं की गोष्ठियों में सम्मिलित होकर वेदान्त आदि शास्त्रों का पर्यालोचन करते। कभी किसी योग-विशारद के पास पहुंच कर योग विद्या का मर्म समझते और जटिल से जटिल यौगिक क्रियाएं सीखते।

स्वामी दयानन्द को विदित हुआ कि व्यासाश्रम में योगानन्द नामक एक महात्मा विराजमान है और वह योग की क्रियाओं में कुशल है। उस महात्मा के मिलाप की उत्सुकता से प्रेरित होकर वह व्यासाश्रम में जा पहुंचे। वहां उन्होंने उक्त महात्मा से योग विद्या के रहस्य सुने और योग की पुस्तकें भी अच्छी तरह पढ़ीं। योग की क्रियाओं को सीख लेने के बाद उन्होंने सुना कि छिन्नाडे में कृष्ण शास्त्री नामक एक धुरंधर वैयाकरण रहता है। वे व्याकरण के अध्ययन की लालसा से उस ग्राम में जा विराजे। कुछ काल तक कृष्ण शास्त्री जी से ग्रन्थ पढ़कर फिर चाणोद कुणाली में पधारे और वहां एक राजगुरु से वेदाध्ययन करने लगे।





निरभिमानता की मूर्ति स्वामी दयानन्द को सत्य के जानने की इच्छा, योग विद्या की प्राप्ति की परम लगन, साधु सन्तोंके शुभ दर्शनों और शान्तिदायक सत्संगों के लिये सदा उत्साहित करती रहती थी। नई-नई विद्याएँसीखने के लिये वे सदा उत्सुक रहते थे किसी महात्मा के पास जाने में उन्हें कभी संकोच न होता था। प्रतीत होता है कि उन्होंने घर का परित्याग करते ही सब से पहले अहंकार के कांटे को हृदय की भूमि से उखाड़ फेंका था। मान का मर्दन कर दिया था। संकीर्णता बिल्कुल छोड़ दी थी। यह हो नहीं सकता था कि ऐसे श्रद्धालु जिज्ञासु की कामनाएँ पूर्ण न हों।



चाणोद कर्णाली में ही स्वामी दयानन्द सरस्वती को दो और महात्माओं के दर्शन प्राप्त हुए। उनमें से एक का नाम ज्वालापुरी और दूसरे का नाम शिवानंद गिरि था। वे दोनों ही प्रसन्नचित और प्रशान्तात्मा थे। स्वामी दयानन्द जी अपना अहोभाग्य समझकर लगे उनके मंगल-मिलाप का आनन्द लूटने। योगीमहात्माओं ने भी जान लिया कि—यह जिज्ञासु आत्म-पिपासु है इसलिए उसे अपने साथ मिला कर अभ्यास शुरु कराया। अभ्यास के बाद तीनों मिलकर योग शास्त्र की चर्चा किया करते थे। कुछ काल के उपरान्त वे दोनों योगी अहमदाबाद चले गये और दयानन्द जी को आदेश कर गये कि एक मास के पश्चात् आप हमारे पास अहमदाबाद में आइएगा, उस समय हम आपको योग साधना के सम्पूर्ण गूढ़ तत्व क्रियाओं सहित भली भांति समझा देगें। वहां हमारा आसन नदी के किनारे दूधेश्वर महादेव के मंदिर में होगा।

स्वामी दयानन्द जी चाणोद में रहकर एक मास तक जप, तप, क्रियानुष्ठान करते रहे। फिर महात्माओं की आज्ञानुसार अहमदाबाद चले गये। सीधे दूधेश्वर के मन्दिर में जाकर उनके दर्शनों से कृतार्थ हुए। वहां उन सन्त शिरोमणियों की शुभ संगति में रात-दिन रहकर आत्म-तृष्णा की परितृप्ति में निमग्न रहते थे। प्रतिदिन के सहवास से योगी राज ने समझ लिया कि स्वामी दयानन्द जी एक उत्तम कोटि के सुपात्र हैं। इन्हें योग तत्वों के मूल्य रत्नों से आकण्ठ भर देना चाहिये। उन्होंने योग का प्रत्येक भेद और रहस्य स्वामी दयानन्द जी को बताया उन योगियों की शुभ कामना से स्वामी जी को लाभ हुआ। उनका उन्होंने अपनी आत्मकथा में कृतज्ञता के साथ इस प्रकार वर्णन किया। "वहां उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और अपने कथनानुसार मुझे निहाल कर दिया। उन्हीं महात्माओं के प्रभाव से मुझे क्रिया समेत पूर्ण योग विद्या भली भांति विदित हो गयी। इसलिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं। वास्तव में उन्होंने मुझ पर एक महान उपकार किया। इस कारण मैं उनका विशेष रूप से अनुगृहीत हूं।"

परन्तु इतने भर से स्वामी दयानन्द सन्तुष्ट न थे और योग के विषय में अधिकाधिक जानने और सच्चे योगियों की खोज एवं उनके सत्संग से लाभ उठाने के लिए उत्सुक और प्रयत्नशील रहते थे।



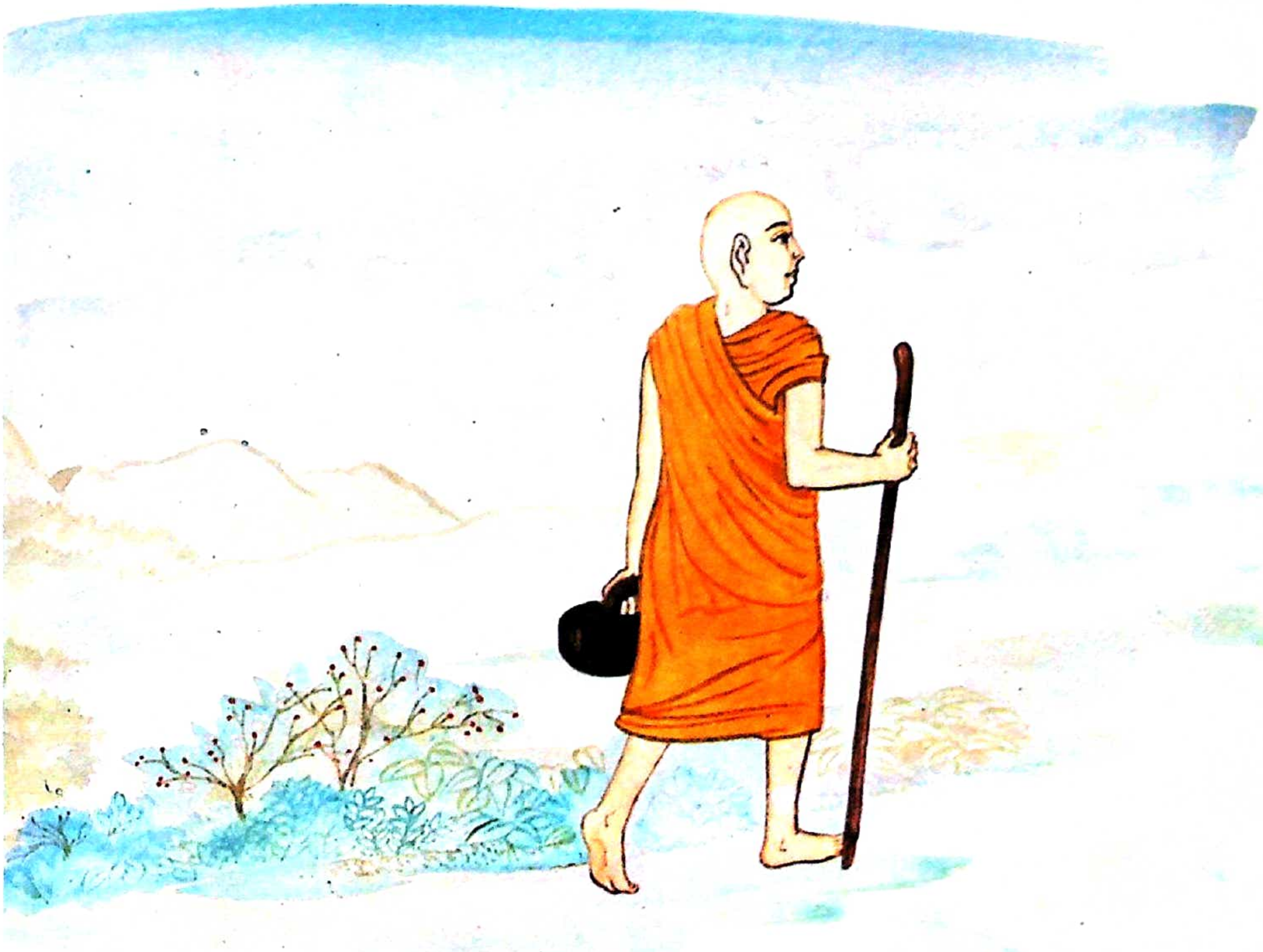
कभी पता लगता कि जितनी योगविद्या अभी तक सीखी है और जैसे योगियों और महात्माओं का अभी तक सत्संग लाभ किया है, उनसे भी अधिक शक्ति-सम्पन्न और योगविद्या में निपुणतर योगी जन विद्यमान हैं। कोई कहता कि ऐसे योगी आबू पर्वत पर निवास करते हैं, कोई कहता—नर्मदा तट पर, और कोई कहता हिमालय के उत्तराखण्ड में।

दयानन्द एक मंजिल पार करता, तो दूसरी मंजिल सामने दिखाई देती। जब दूसरी मंजिल पार करता तो उससे भी और आगे तीसरी मंजिल अपनी ओर आकर्षित करती।

कहां है आखिरी मंजिल ?

दयानन्द आबू गया। नर्मदा-तट का भी भ्रमण किया। और सात आठ साल तक लगातार भटकता रहा। पर मंज़िल दूर ही दूर सरकती गई अनन्त की ओर।

अन्त में उत्तराखण्ड की ओर संन्यासी के कदम बढ़ चले।



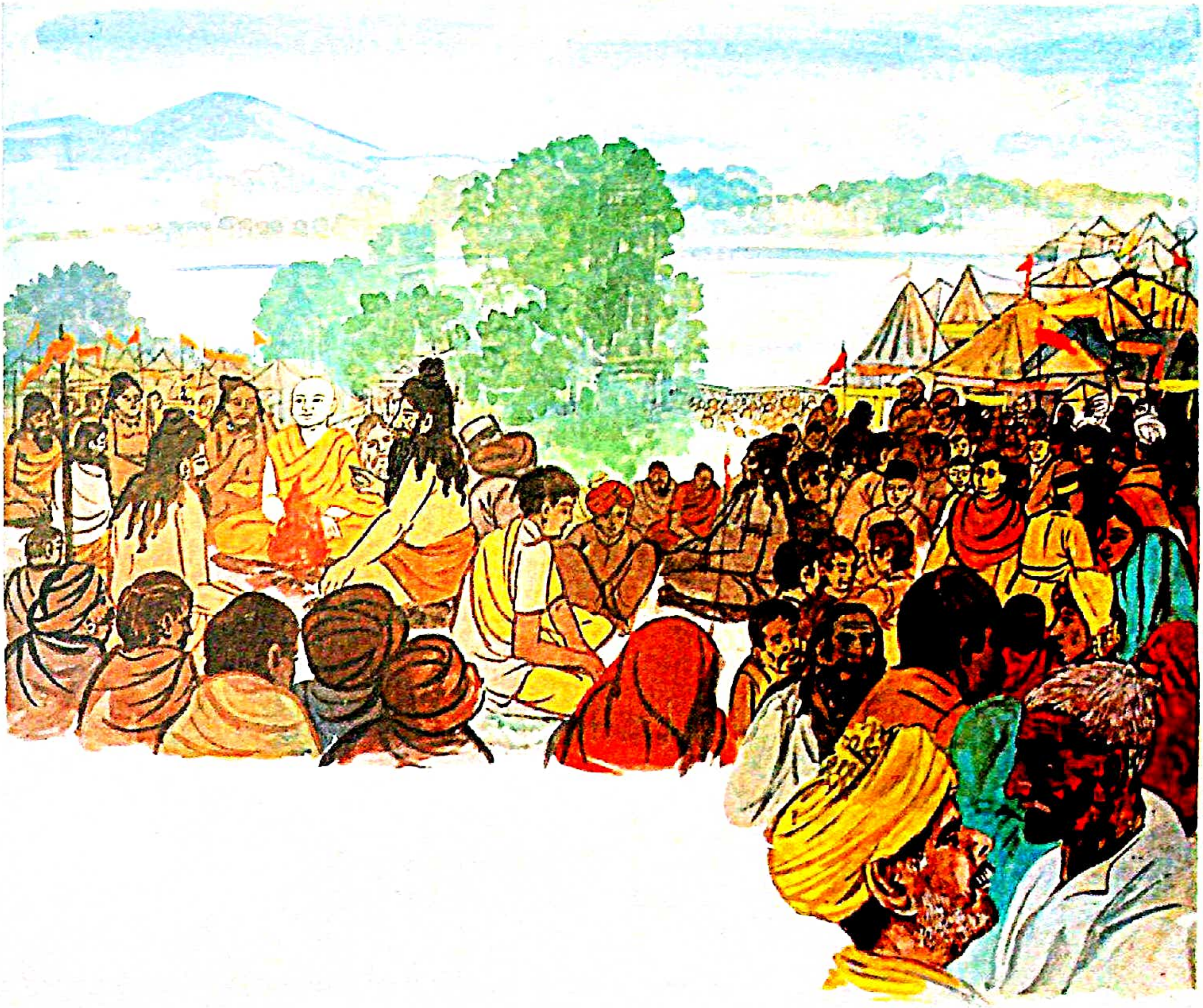
जहां स्वामी जी ने सुनरखा था पर्वतराज हिमालय ने बड़े-बड़े योगियों, तपस्वियों विरक्ता ग्रौर साधु सन्तों को ग्रपनी गोद में छुपाया हुग्रा है जिनके ग्रात्मिक प्रकाश से हिमालय की घाटियां ग्रौर पर्वत शिखर प्रकाशमान है उन्हें खोजा ही जा सकता है बहुमूल्य मणियों की भांति। यद्यपि यह यात्रा भय ग्रौर खतरों से परिपूर्ण ग्रौर परिश्रम साध्य थी तथापि स्वामी दयानन्द जैसे दृढ़ निश्चयी व्यक्ति को सुगम देख पड़ती थी। ग्रतः वह खतरों ग्रौर भय की परवाह किये बिना बढ़ते चले गये ग्रौर हरिद्वार पहुंच गये।

हरिद्वार है उत्तराखण्ड का प्रवेशद्वार। यहीं पर लगता है कुम्भ का मेला जिसमें लाखों नर-नारी शामिल होते हैं। साधुओं के अखाड़ों की तो गिनती ही नहीं। बड़े-बड़े मठाधीश, सन्त, महन्त—जिनकी हाथियों पर और सुसज्जित अश्वों पर सवारियाँ निकलती हैं। इन असंख्य नर-नारियों में कहीं न कहीं सच्चे साधु-महात्मा भी होंगे ही—यही उत्सुकता दयानन्द को हरिद्वार के कुम्भ मेले पर खींच लाई।

पर 'साधु न चलें जमात'—सच्चे साधु कहीं भीड़ में नहीं, एकान्त में ही मिलेंगे। इसलिए दयानन्द ने भीड़ से हटकर चण्डी पर्वत की एकान्त उपत्यका में डेरा लगाया। वहीं से कुम्भ के मेले को देखते रहे, मेले के रूप में उपस्थित समस्त-भारत का प्रतिनिधित्व करने वाले जन-समुदाय को आँकते रहे और भारत की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक नब्ज को टटोलते रहे।

कुम्भ का यह मेला सम्वत् १६१२ वि० का मेला था। इस समय स्वामी जी की आयु ३२ वर्ष की थी। स्वामी दयानन्द इस महान साधु-समारोह में अपनी परख के प्रभाव से उत्तमोत्तम सन्तों को मिलते थे। हर की पैड़ियों की ओर बड़ी भारी भीड़भाड़ और महा कोलाहल था। मनुष्य पर मनुष्य गिरता था। कंधे से कंधे छिलता था। सर्वत्र गंदगी भी व्याप्त थी। तट समीप वाहिनी गंगा की धारा भी लाखों नर नारियों के नहाने से वस्त्रों के धोने से वर्तनों के प्रक्षालन से नांगों की देह की राख से शुद्ध तो कहां निर्मल भी न रही थी। धूल से पृथ्वी और आकाश एक हो रहा था। गंगा का यह किनारा ध्यान समाधि तो कहां सुख से विश्राम लेने के भी अयोग्य हो गया था। इसी कारण महात्मा दयानन्द जी महाराज जो योग साधन में परायण थे मेले के दिनों में चंडी पर्वत के जंगल में निवास करते हुए सच्चे योगियों की परख में लगे थे ऐसे मेलों पर आए अन्य योगी जन भी प्राय: नदी के उसी पार रहा करते हैं। स्वामी दयानन्द को देश भर में व्याप्त धार्मिक अंध विश्वासों पाखंड और आडम्बर की सामूहिक झांकी देखने का यही-पहली बार मौका मिला था पर उस विशाल भीड़ में उन्हें मनचाहे योगी के सत्संग का लाभ प्राप्त न हो सका।

कुंभ के इस मेले ने सत्य और ईश्वर की खोज के उनके अभियान को अमिट प्रेरणा दी और उनकी विचार सरणि में सुधार का पुट लगाया।



हरिद्वार में गंगा हिमालय की कोख से निकल कर मैदान में उतरती है। पौराणिक कथा के अनुसार महाराज भगीरथ सगर पुत्रों के उद्धार के लिए बड़ी तपस्या से गंगा को स्वर्ग से उतार कर धरातल तक लाए थे। दयानन्द सोचता—मैं भी तपस्या करूं और देश के समस्त साधुओं को संगठित कर उन्हें राष्ट्रसेवा के मन्त्र से दीक्षित कर दूं, तो क्या भारत-माता की परतंत्रता की बेड़ियां नहीं टूट सकतीं, क्या सामाजिक क्षेत्र में नई चेतना नहीं आ सकती, क्या जन-कल्याण की यह नई गंगा कल्पना के स्वर्ग से यथार्थ के धरातल पर नहीं उतर सकती ?



इन्हीं विचारों में खोया युवा संन्यासी हरिद्वार से ऋषिकेश और टिहरी होता हुआ उतराखण्ड की ओर बढ़ चला।

टिहरी के पुस्तकालय में दयानन्द ने कुछ तंत्र सम्बन्धी पुस्तकें देखीं। तंत्रग्रन्थों में घोर पैशाचिक और पाशविक क्रियाओं का उपदेश उसे देखकर अत्यन्त विस्मय हुआ। जब श्रीनगर और केदारघाट की पण्डितमण्डली में भी उन पाशविक वामाचारों का कोई युक्तिसंगत समाधान नहीं मिला, तो तंत्र मार्ग से दयानन्द को घृणा हो गई।

उतराखण्ड की हिममण्डित रमणीय शैलश्रृंखला ने, सुन्दर प्राकृतिक परिवेश ने और वहां के निवासियों के भोले स्वभाव ने, दयानन्द का मन मोह लिया। युवा संन्यासी सोचता कि इन पर्वतों के दुर्गम शिखरों पर और एकान्त कन्दराओं में अवश्य कोई न कोई पहुंचे हुए सिद्ध महात्मा रहते होंगे। वह कभी कभी बस्तियों को छोड़कर एकाकी ही हिमाच्छादित शिखरों की ओर चल पड़ता। जंगलों और कंटीली झाड़ियों में उलझता हुआ कन्दराओं की खोज करता। पर जैसे योगियों की तलाश में वह था, वैसे योगी उसे नहीं मिले। उतराखण्ड में भी पाखण्डी साधुओं की कमी नहीं थी। कभी-कभी किसी विद्वान् साधु से भी भेंट हो जाती। पर सिद्ध योगी कहीं नहीं मिले।

एक बार दयानन्द चारों ओर बर्फ से ढके तुंगनाथ शिखर तक जा पहुंचे। वहां भी मनोरथ पूरा नहीं हुआ। वापिस नीचे की ओर चले। मार्ग कोई था नहीं, जिस दिशा की ओर मुड़े वह घने जंगल की ओर जाती थी। जंगल में भी कोई रास्ता नहीं। ऊपर चढ़े या नीचे उतरें, दयानन्द किंकर्तव्यमूढ़।

अन्त में नीचे की ओर ही उतरने का निश्चय किया। मार्ग के अभाव में झाड़ियों और लता-गुल्मों को पकड़-पकड़ कर दयानन्द नीचे उतर रहे थे। कहीं चट्टानों से टकराते, कहीं कांटों से शरीर छिद जाता। कंटीली झाड़ियों में उलझकर सारे कपड़े लीर-लीर हो गए। पैर लहू लुहान। धीरे-धीरे एक सूखी नदी के कगार पर पहुंचे। वहां एक ऊंची चट्टान पर खड़े होकर देखा—चारों ओर सुनसान, अगम्य और मार्गहीन वनस्थली, ऊबड़-खाबड़ भूमि। भगवान् भुवन-भास्कर अस्ताचल की ओर तेज़ी से जा रहे थे। यदि रात हो जाती, अन्धकार फैल जाता, तो उस भीषण वन में न कोई सहायक, न आग जलाने का कोई साधन—उतनी ऊंचाई पर ठण्ड का भी क्या ठिकाना।

दयानन्द ने हिम्मत नहीं हारी। उत्कट पुरुषार्थ का सहारा लेकर नीचे उतरते गए। जब एक पर्वत के पादमूल में पहुंचे तो एक कुटिया मिली। कुटिया के आगे कुछ पगडण्डी-सी भी थी। रात हो चुकी थी। कुटिया के निवासियों ने बताया कि पास ही उखी मठ है।

दयानन्द लंगड़ाते और अंधेरे में टटोलते-टटोलते आधी रात के आस-पास उखी मठ पहुंचे।



रात में कुछ देर विश्राम करके अगले दिन प्रातः तीस वर्षीय यह युवा-संन्यासी फिर पर्वतों में योगियों की खोज के लिए निकल पड़ा। अपने शरीर के कष्ट को वह भूल गया। इसे यौवनोचित साहस कहें या आत्मिक मनोबल कहें। जब आत्मा में किसी चीज़ की लगन लगी हो तब शारीरिक कष्ट व्यक्ति को विचलित नहीं कर सकते।

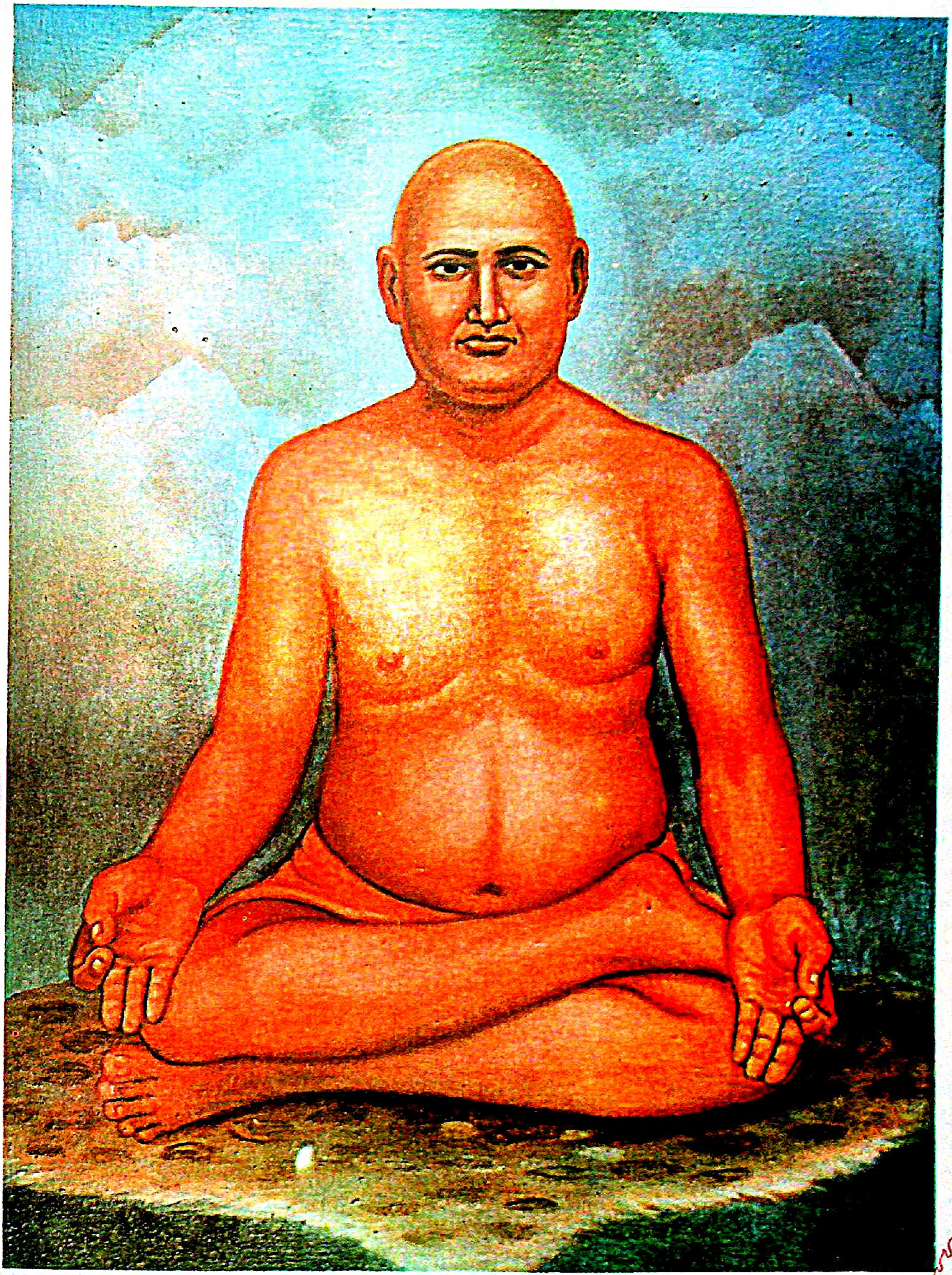
दयानन्द शाम तक वापिस लौट आए। उनके मन में मठ के साधुओं के आचार-व्यवहार को निकट से देखने की इच्छा थी।

उखी मठ उत्तराखण्ड का बड़ा प्रसिद्ध मठ था। धन-सम्पन्न और साधन-सम्पन्न। इस मठ में पुस्तकालय भी बहुत अच्छा था। मठ के महन्त को दयानन्द की तपस्या, विद्वत्ता, तेजस्विता, और ब्रह्मचर्य-परायणता ने मोह लिया। उसने प्रसन्न होकर दयानन्द से शिष्य बन जाने का अनुरोध किया और यह प्रलोभन भी दिया कि बाद में इस मठ के प्रचुर वित्तैश्वर्य के तुम ही स्वामी बनोगे। महन्त के इस प्रस्ताव पर दयानन्द ने कहा : "इस मठ की जितनी सम्पत्ति है, उससे किसी भी अंश में कम मेरे पिता की सम्पत्ति नहीं है। यदि मुझे सम्पत्ति का मोह होता तो मैं घर छोड़ कर ही क्यों आता ?"

उखी मठ के महन्त के इस प्रलोभन को ठुकराकर दयानन्द जोशी मठ की ओर चल दिए।

जोशी मठ की ओर बढ़ते हुए ऊखी मठ के महन्त का प्रलोभन और पूजापाठ के पाखंड से धन-सम्पदा का उपार्जन स्वामी दयानन्द के हृदय को उद्वेलित कर रहे थे। उनकी सच्ची योग विद्या और मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही थी। उनका यह दृढ़ व्रत कि जब तक तपश्चर्या करता हुआ मनुष्य मात्र की सेवा और स्वदेशोपकार को बराबर-करता रहूंगा उनकी आत्मा को साधुवाद दे रहा था। उनकी निर्लोमिता उनके उन्नत भाल पर फूलों की वर्षा कर रही थी। जोशी मठ की ओर बहने वाला वायु यह संदेश प्रवाहित करता प्रतीत होता था कि मानव समाज को दयानन्द के रूप में एक सत्य एवं दृढ़वती निष्काम सेवी उद्धारक प्राप्त होगा। फारस का एक बादशाह अमरत्व के फूल की खोज में वन पर्वतों में घूमता फिरा और बड़े से बड़े दारुण कष्ट को भी तुच्छ समझता रहा। स्वामी दयानन्द भी उसी की भांति अपने फल की खोज में घर से निकला था और बड़े से बड़े शारीरिक कष्ट को सहन करता हुआ फिरता रहा।

जोशी मठ में सन्यासाश्रम की चौथी श्रेणी के बहुत सच्चे महाराष्ट्र संन्यासी वास करते थे। स्वामी जी ने उन्हीं के पास अपना आसन जमाया वहां उन्हें कई योगी जन सतसंग के लिये मिल गये। स्वामी जी ने उनसे कई नवीन भेद भी प्राप्त किये और साथ ही विद्वान साधु सन्तों से परमार्थ विषयक वार्तालाप करते रहे।



जोशी मठ से होते हुए दयानन्द अलकनन्दा के किनारे-किनारे बद्रीनाथ पहुंचे। शंकराचार्य ने भारत की चारों दिशाओं में सांस्कृतिक चौकियों के रूप में जो चार मठ बनाए थे, उनमें उत्तर दिशा में स्थित बद्रीनाथ सबसे प्रमुख है। दीपावली के पश्चात् इस मन्दिर के पुजारी तथा अन्य कर्मचारी नीचे जोशीमठ में आ जाते हैं, क्योंकि शीतकाल में बद्रीनाथ की सारी बस्ती चारों ओर हिम से ढक जाती है।

बद्रीनाथ के प्रधान पुजारी रावल जी से दयानन्द की वेदादि शास्त्रों के सम्बन्ध में अक्सर चर्चा होती। एक दिन दयानन्द ने रावल जी से पूछा कि आस-पास कोई सच्चे योगी और सिद्ध महात्मा रहते हैं या नहीं। रावल जी ने कहा—"मेरी जानकारी में तो कोई नहीं है, परन्तु मैंने सुना है कि कभी-कभी ऐसे योगी मन्दिर में दर्शन करने आया करते हैं।"

दयानन्द को कुछ आशा बँधी। वे योगियों की खोज में अलकनन्दा के उद्गम की ओर चल पड़े।

माना ग्राम भारत के उत्तरी सीमान्त की अन्तिम बस्ती है और उसके आगे माना जोत (शिखर) की अधित्यका में अलकनन्दा नदी का उद्गम स्थान है। अलकनन्दा के उद्गम स्थल पर पहुंच कर उन्होंने देखा कि चारों ओर गगनभेदी पर्वत-माला खड़ी है। कहीं बस्ती का या पेड़ पौधों का नाम भी नहीं है। चारों तरफ भयंकर सुनसान है। किसी भी दिशा में किसी प्रकार का कोई मार्ग नहीं है।

अलकनन्दा के उद्गम के पास खड़े दयानन्द ने सोचा कि नदी के पार शायद कोई रास्ता मिले। वे नदी पार करने को उद्यत हो गए।



पहाड़ी नदी का तीव्र वेग, बर्फानी पानी, शिलाखण्डों के साथ हिमखण्डों का अनवरत संघर्ष। दयानन्द भूख और प्यास से क्लान्त। दुर्गम चढ़ाई पार कर वहां तक पहुंचने के कारण शरीर थकावट से चूर। दयानन्द ने प्यास बुझाने के लिए बर्फ का टुकड़ा मुंह में डाला। पर तृषा शान्त नहीं हुई। दयानन्द पार जाने के लिए पानी में उतर पड़े।

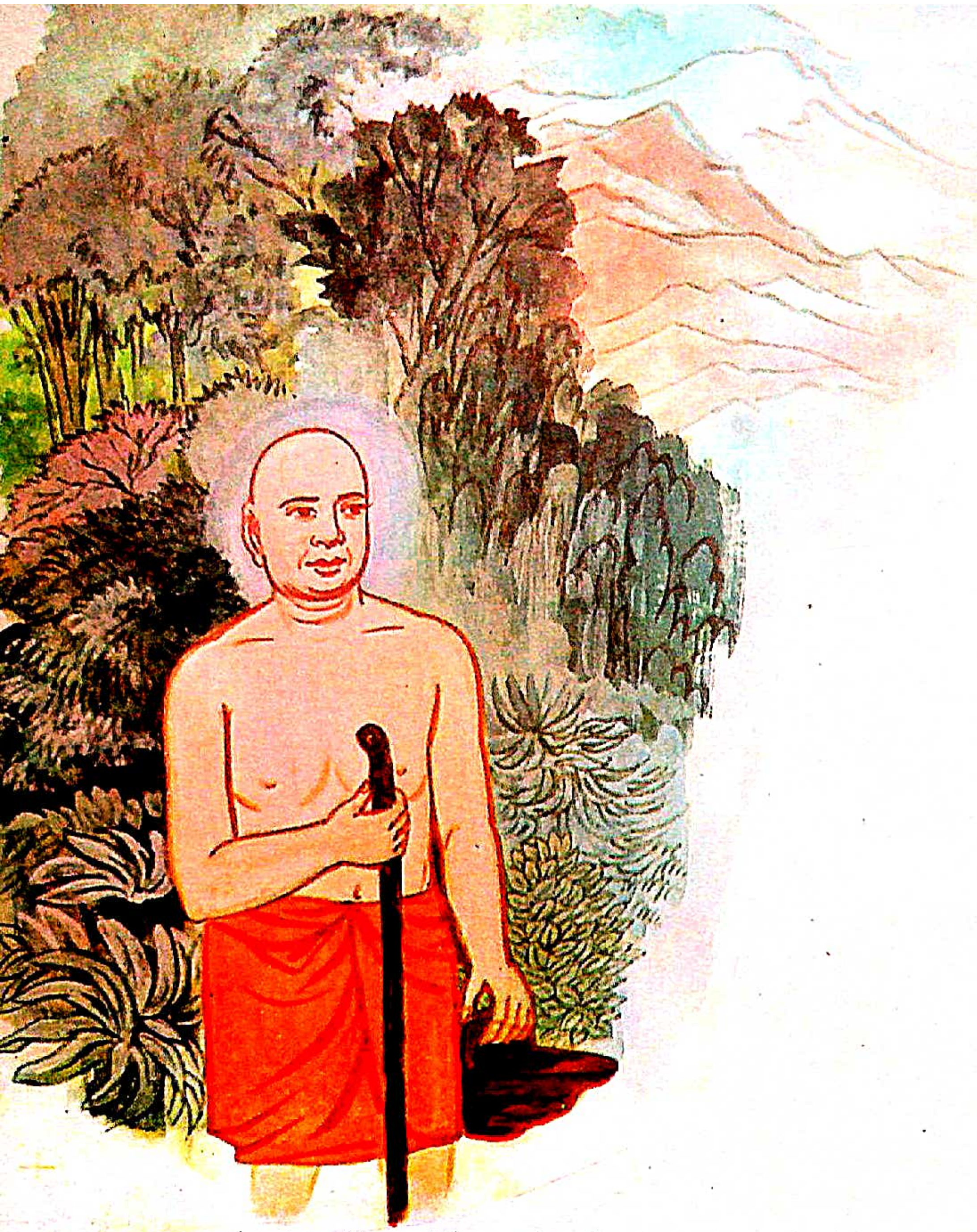
तीक्ष्ण धार वाले बर्फ के टुकड़ों से नंगे तलवे क्षत-विक्षत हो गए। घायल हुई जगह से खून चूने लगा। दारुण शीत से हाथ पांव सुन्न। शरीर इतना अशक्त कि उस शीतल जल में एक बार गिर पड़ते तो दुबारा उठ भी नहीं सकते थे। शायद वहीं चिरसमाधि की नौबत आ जाती। पर बाल ब्रह्मचारी ने हिम्मत नहीं हारी। किनारे की ओर बढ़ता रहा। निकट ही था कि किनारे पर पहुंचने से पहले ही वह नदी में गिर पड़ता, कि तभी कहीं से दो पहाड़ी आदमी निकल आए। उन्होंने दयानन्द को संभाला और हाथ पकड़ कर किनारे तक पहुंचने में सहायता दी। तट पर पहुंच कर दयानन्द बेहोश हो गए।

जब कुछ होश आया तो शरीर पर पहने हुए कपड़े उतार कर पांवों के तलवों से लेकर घुटनों तक पट्टियां बांधी। पांवों को पाला मार जाने का खतरा था। पहाड़ी आदमियों ने दयानन्द को अपने साथ ले जाना चाहा—पर दयानन्द अशक्तता के कारण हिल भी नहीं सकते थे। अगर यहीं प्राणान्त हो जाता, तो सत्य की खोज के संकल्प का क्या होता?

कुछ देर के विश्राम के बाद आत्मिक संकल्प ने शरीर में फिर चैतन्य भर दिया। मौत की घाटी को पार कर वसुधारा होते हुए दयानन्द रात को आठ बजे बद्रीनाथ पहुंचे।

उत्तराखण्ड से उतर कर जब दयानन्द मैदानों की ओर अग्रसर हुए तब एक दिन घने जंगल में अकस्मात् एक रीछ सामने पड़ गया। अपने वन्य-साम्राज्य में एकाकी मानुष को पाकर रीछ आक्रमण करने को लपका। तब दयानन्द ने जोर से एक हुंकार लगाई और अपने हाथ का दण्ड रीछ की ओर घुमाया तो रीछ नौ-दो ग्यारह हो गया।





एक ग्रोर देश में राजनीतिक क्रान्ति हो रही था ग्रौर दूसरी ग्रोर दयानन्द के हृदय में घोर हलचल मच रही थी। वह देशवासियों की गिरावट एवं गर्हित राजनैतिक दुरवस्था से परिचित थे। लोगों की हृदय विदारक निर्धनता ग्रौर उनकी ग्रसहायावस्था को देखकर उनका हृदय रोता था। उन्होंने हज़ारों लोगों को भूख से तड़पते ग्रौर मरते हुए देखा था, ग्रौर देखा था लाखों व्यक्तियों को जो. सूखकर काँटा हो गए थे, जिनके गाल पिचक गये थे ग्रौर ग्रांखे ग्रन्दर धंस गयी थी जो निराश ग्रौर निरूपाय थे। उन्होंने हज़ारों ऐसे लोगों को भी देखा था जो ग्रपनी दुरवस्था ग्रपनी पैतृक संपदा से बेखबर थे जो ग्रपनी शक्ति से ग्रनभिज्ञ थे। उन्होंने ऐसे व्यक्ति भी देखे जो धन के नशे में चूर मौज विहार करते थे परन्तु जिन्हें ग्रपनी जिम्मेवारी का कोई ग्रहसास (ध्यान) न था ग्रौर न ज़िन्हें ग्रपने चहु ग्रोर व्याप्त निर्धनता की ही ग्रनुभूति थी जो मुंह बाए दिन पर दिन ग्रन्यों को ग्रपनी लपेट में लेती जा रही थी। दयानन्द ने ग्रपने चहुं ग्रोर ऐसे व्यक्तियों को भी देखा जो ग्रापस की फूट विद्वेष ग्रौर घृणा से ग्राक्रान्त ग्रौर परेशान थे। ग्रौर जो ग्रपनी शक्ति ग्रौर प्रतिभा से वंचित होकर दूसरों के गुलाम बन गये थे जिनकी लकड़हारों एवं भिश्तियों जैसी स्थिति बन गयी थी। दयानन्द ने उस दुरवस्था को देखकर एक स्वप्न लिया था ग्रौर वह था समस्त हिन्दुग्रों का संगठन जिन्हें ग्रपने वर्तमान का ज्ञान हो ग्रपने गौरवमय भूतकाल की ग्रनुभूति हो ग्रौर जिनमें भ्रष्टाचार, ग्रज्ञान, ग्रभाव, ग्रन्याय ग्रौर ग्रान्तरिक कलह के गढ़े से निकल ग्रौर विशुद्ध एवं शक्तिशाली बन ग्रपने पैरों पर खड़े होकर समस्त देश को संसार के राष्ट्रों में स्थान दिलाने की तड़प हो। उनका स्वप्न यह भी था कि संगठित हिन्दू जाति ही धनवानों के घमंड एवं विद्वेष को दूर करने में समर्थ होगी। तभी वे लोग गरीबों एवं ग्रज्ञानियों का खून चूसने से बाज ग्रायेंगे। तभी देशवासी स्वतंत्रता प्राप्त करने में ही नहीं ग्रपितु भोगवाद की जीवन प्रणाली से लोगों को मुक्त करने के ग्रपने मिशन में सफल होने में समर्थ हो सकेगें जो धनवानों के द्वारा गरीबों का शोषण करना तथा लोगों को कठोर एवं क्रूर बनाना सिखाती है।

अब तक दयानन्द योगियों के पीछे दीवाने थे। किसी और चीज की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। हिमालय के उत्तुंग गिरिशृंगों पर योगियों की खोज से निराश हो गए। साधुओं के संगठन का स्वप्न भी चरितार्थ नहीं हुआ। तब दयानन्द उत्तर-भारत के मैदानों की ओर लौटे। तभी देश की दुर्दशा की ओर उनका ध्यान गया।

देश में भीषण अकाल पड़ रहा था। लोग अनाज के दाने-दाने को तरस रहे थे।

दयानन्द के जन्मकाल से पहले उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में जैसी अराजकता थी, वैसी अराजकता तो अब नहीं थी। पर अंग्रेजों का दमनचक्र इतना जबर्दस्त था कि जनता के मनों में अन्दर ही अन्दर विद्रोह की चिनगारियां फूट रही थीं।

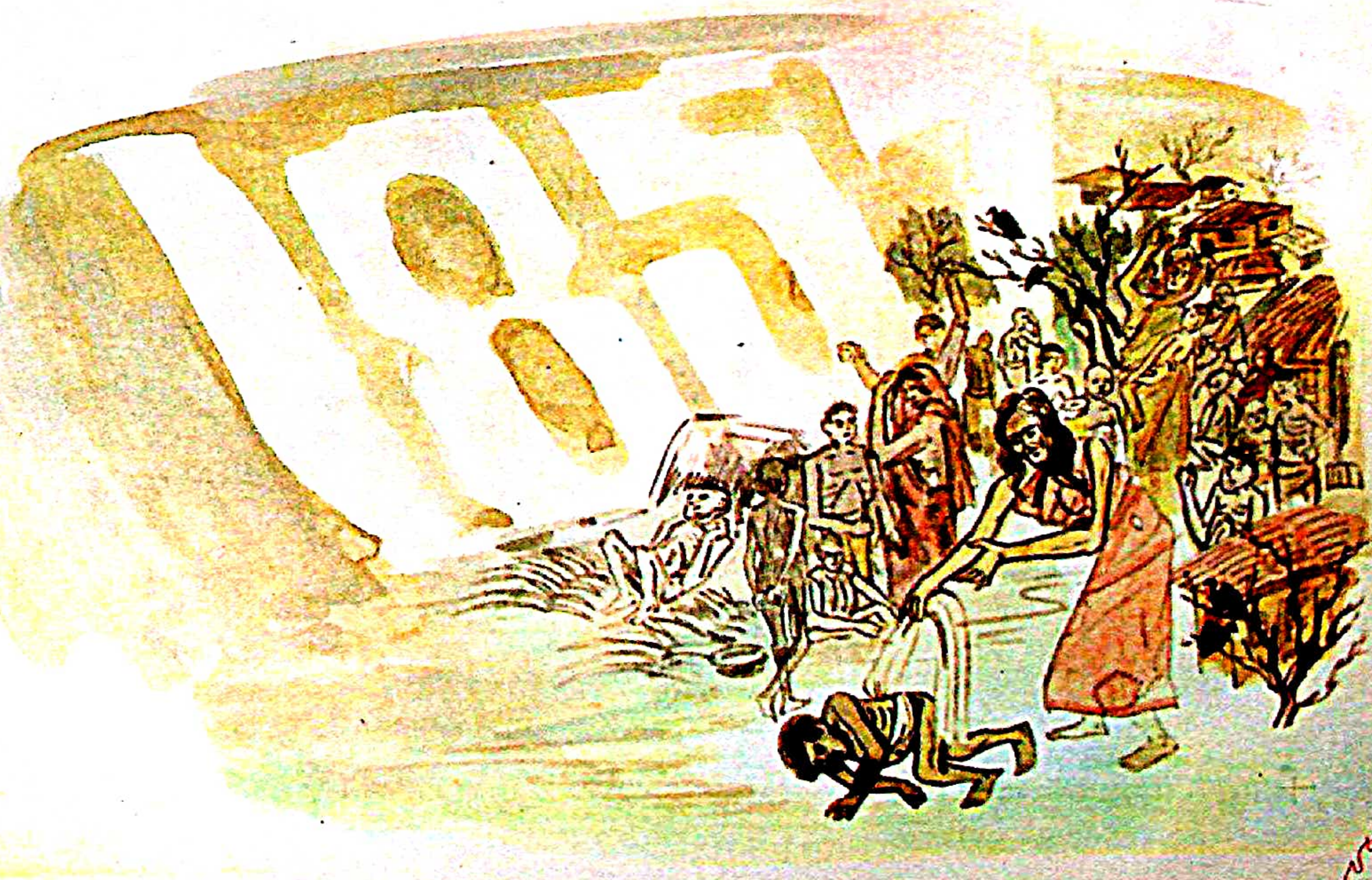
'फूट डालो और राज्य करो' की नीति पर चलते हुए, बन्दर बांट के द्वारा, अंग्रेजों ने अधिकांश देशी राजाओं को समाप्त कर दिया था। जो थोड़े बहुत बचे थे, उन को भी साम-दाम-दण्ड-भेद के द्वारा हस्तगत करने की चेष्टा चल रही थी। इसलिए अधिकांश राजा-गण मन में आतंकित होते हुए भी अपने असन्तोष को व्यक्त करने के लिए किसी उचित अवसर की प्रतीक्षा में थे।

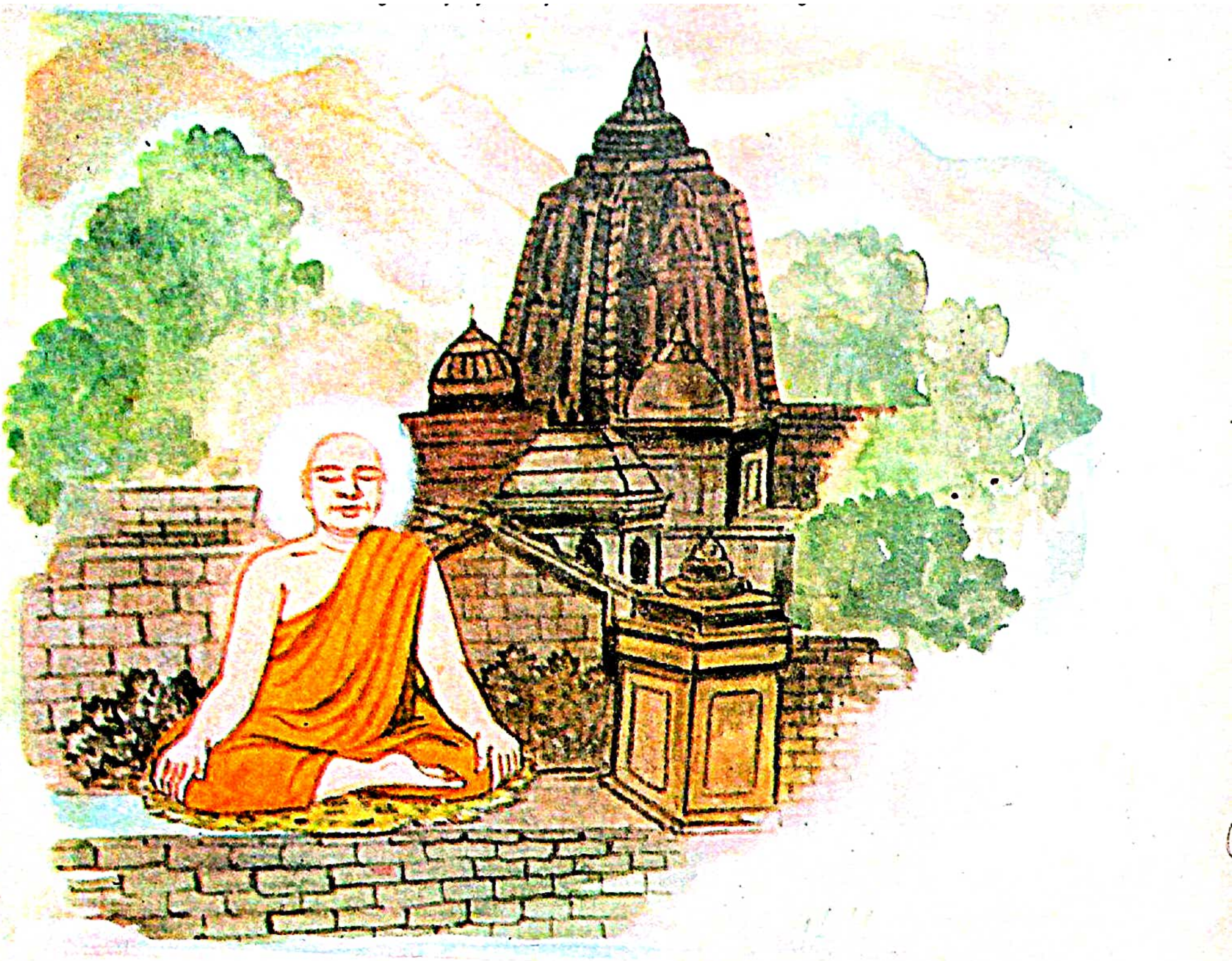
यूरोप में औद्योगिक सभ्यता का विकास प्रारम्भ हो चुका था। अंग्रेजों के आर्थिक शोषण से भारत दिन प्रतिदिन गरीब होता जा रहा था और ब्रिटेन समृद्धि के नित्य नए सोपानों पर आरोहण करता जाता था। देश में कहीं बाढ़, कहीं भीषण सूखा और अकाल, और जिधर देखो भूखे नंगे बच्चे और अस्थिकंकाल जैसे नर और नारी।

एक दिन का दृश्य : एक महिला अपने बच्चे के शव को लेकर नदी तट पर आई। शव को उसने नदी के जल में प्रवाहित कर दिया। परन्तु प्रवाहित करने से पहले उसने शव पर पड़े कफन को उतार लिया और उसे निचोड़ कर वापिस ले चली। उसके पास तन ढकने को दूसरा कपड़ा नहीं था इसीलिए उसने अपने बेटे के शव पर से कफन भी उतार लिया।

इस दृश्य को देखकर दयानन्द का हृदय अपने देशवासियों की दयनीय दशा पर क्रन्दन कर उठा।

सन् 1857 से पहले देश ऐसे ही दौर से गुजर रहा था।





हिमालय से उतर कर गंगा के किनारे किनारे भ्रमण करते और देश-दर्शन करते दयानन्द गढ़मुक्तेश्वर पहुंचे। एक दिन गंगा-तट पर एक मन्दिर के पास वे संध्या कर रहे थे कि दैवयोग से एक शव गंगा की धारा में बहता दिखाई दिया। उन दिनों दयानन्द हठयोग के ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे। नाड़ी-चक्र के सम्बन्ध में इन ग्रन्थों में जो कुछ पढ़ा था उसके सत्यासत्य की परीक्षा का यह अच्छा अवसर था।

वे गंगा में उतर पड़े, तैर कर शव को किनारे पर लाए और तेज छुरी से उसकी चीरफाड़ करके सावधानी से ग्रन्थों के वर्णन से उसका मिलान करने लगे। जब देखा कि ग्रन्थ का नाड़ीचक्र सम्बन्धी एक भी वर्णन सही नहीं है, तब उन्होंने चीरे हुए उस शवदेह को वापिस गंगा में फेंक दिया और साथ में उन पुस्तकों को भी गंगा में प्रवाहित कर दिया।

इस घटना ने उनके हृदय में मनुष्यकृत ग्रन्थों के प्रति अनास्था की भूमिका तैयार की हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस घटना से उन की सत्य के प्रति दृढ़ आस्था की भावना का भी परिचय मिलता है।

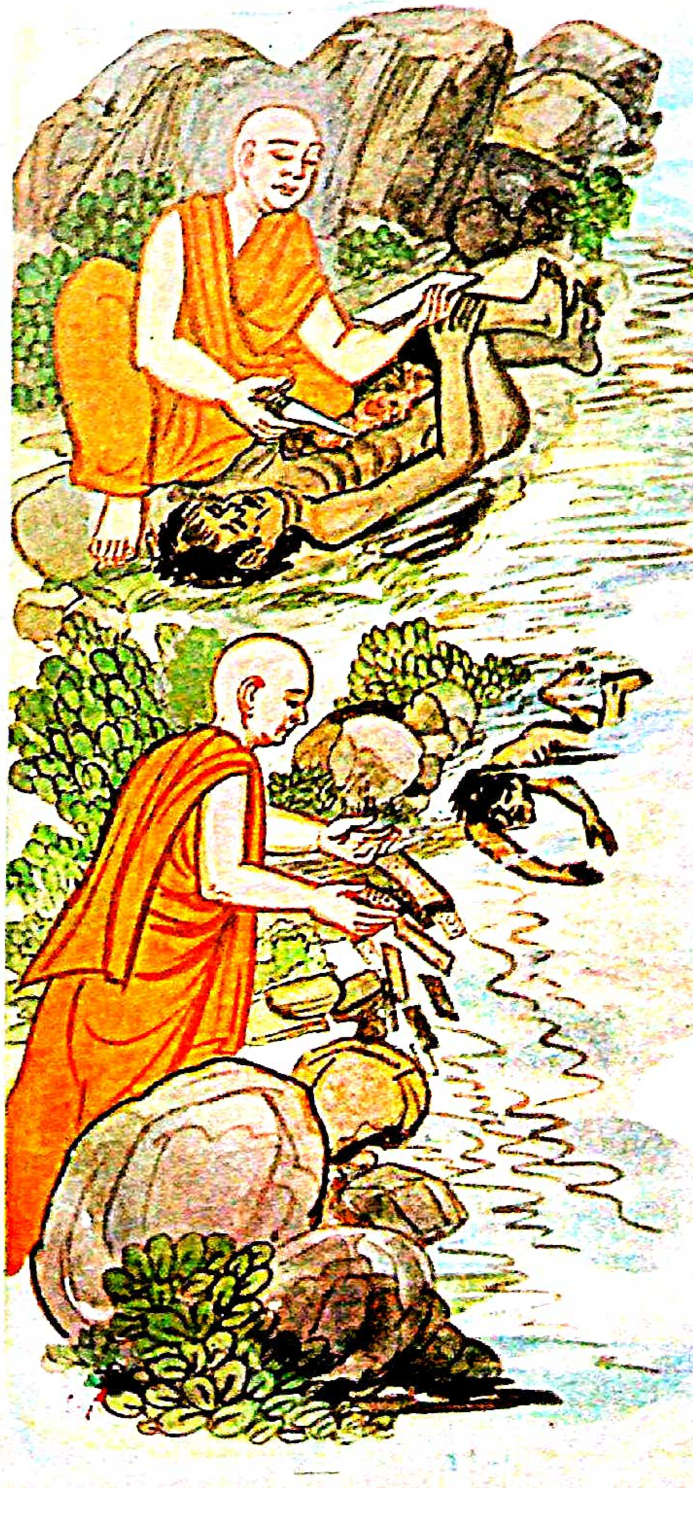
ऐसी ही गंगा के साथ-साथ चलते हुए संवत् १९१२ की समाप्ति पर स्वामी जी फर्रुखाबाद पहुंचे। वहां से छावनी से पूर्व दिशा वाली सड़क से कानपुर की ओर प्रस्थान किया। संवत् १९१३ में पांच महीने तक स्वामी जी कानपुर और प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों में विचरते रहे। वहां से विचरते हुए मिर्जापुर में एक मास से कुछ अधिक समय तक आशील जी के मन्दिर में जा विराजे। वहां से काशी गए। वहां वरुणा और गंगा के संगम के पास ही एक गुफा में जाकर टिके। इस बार काशी में केवल १२ दिन का आवास रहा।

जहां-जहां अंग्रेजों की सैनिक छावनियां थीं, उन-उन स्थानों की दयानन्द ने विशेष रूप से यात्रा की। इन स्थानों की यात्रा का मुख्य प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि दयानन्द सैनिक छावनियों में विदेशी दासता के प्रति आक्रोश की कितनी मात्रा है, इसका अध्ययन करना चाहते थे।

अन्त में वे काशी से विन्ध्याचल की ओर मुड़ गए और नर्मदा नदी के उद्गम की खोज में चल दिए।

बुन्देलखण्ड और विंध्याटवी को पार कर दयानन्द इसके बाद तीन साल तक नर्मदा और उसके आस-पास के प्रदेशों में कहां-कहां घूमते रहे और किन-किन लोगों से मिलते रहे—यह सब अभी पूरी तरह ज्ञात नहीं है। सन् १८५६ से १८५८ तक की इस अवधि के बारे में ऋषि दयानन्द की गतिविधियों के बारे में संसार अभी अंधकार में है।

इसी अवधि में सन् १८५७ की प्रथम राज्यक्रान्ति हुई जिसे अंग्रेज़ों ने 'गदर' के नाम से सम्बोधित किया। इस अवधि में अपनी गतिविधियों के बारे में इस युवा संन्यासी की यह चुप्पी भी इतनी जबर्दस्त है कि उसी से इस कल्पना को आधार मिलता है कि दयानन्द ने इन तीन वर्षों में इस राज्यक्रान्ति के नेताओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर विदेशी शासन को उखाड़ने का प्राणपण से प्रयत्न किया था।



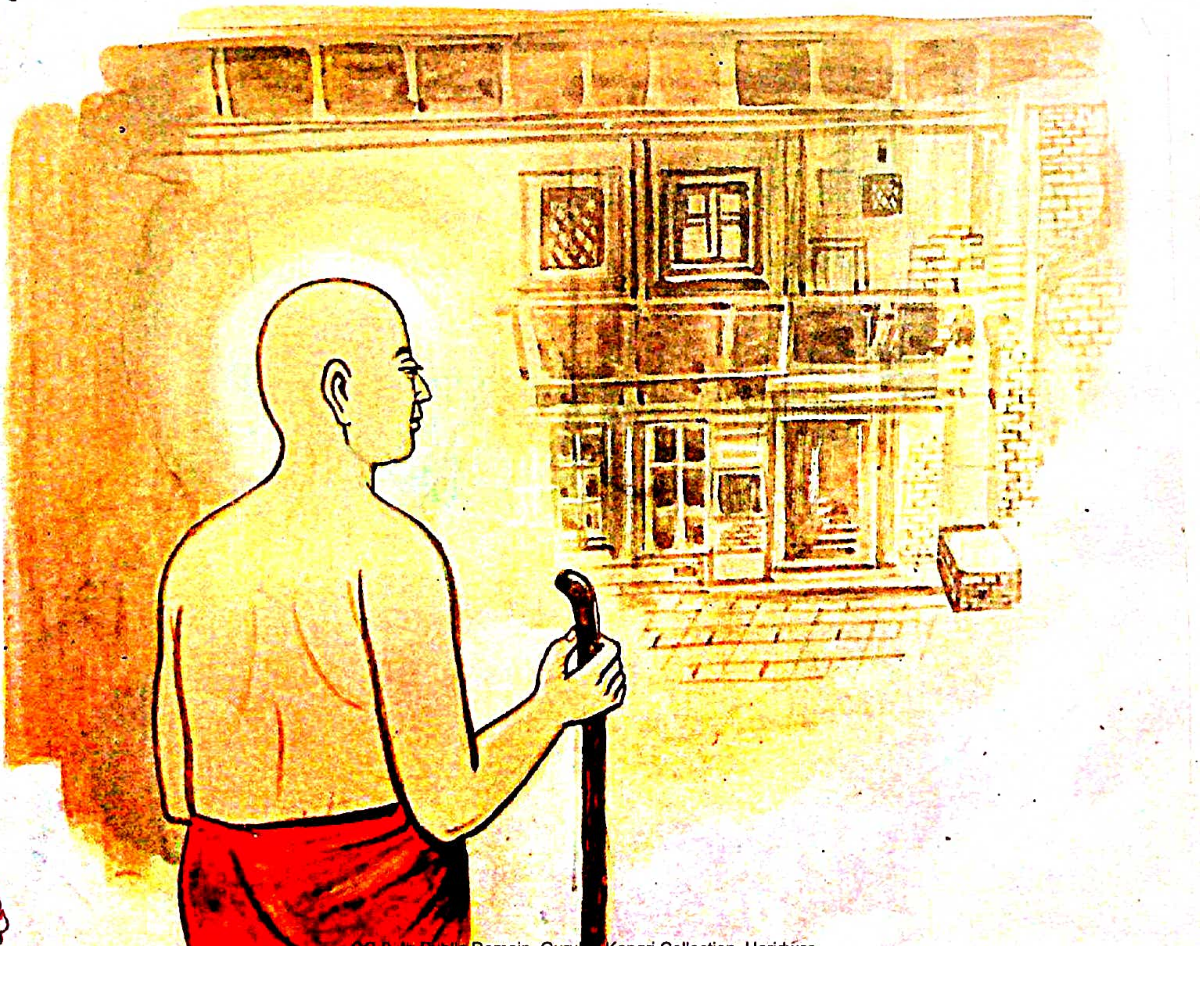
धीरे-धीरे इस राज्यक्रान्ति की उत्तप्त ज्वाला शान्त हो गई। अंग्रेज़ों के भीषण दमनचक्र और देशवासियों की आपसी फूट के कारण वह बेल मढ़े चढ़ने वाली नहीं थी।

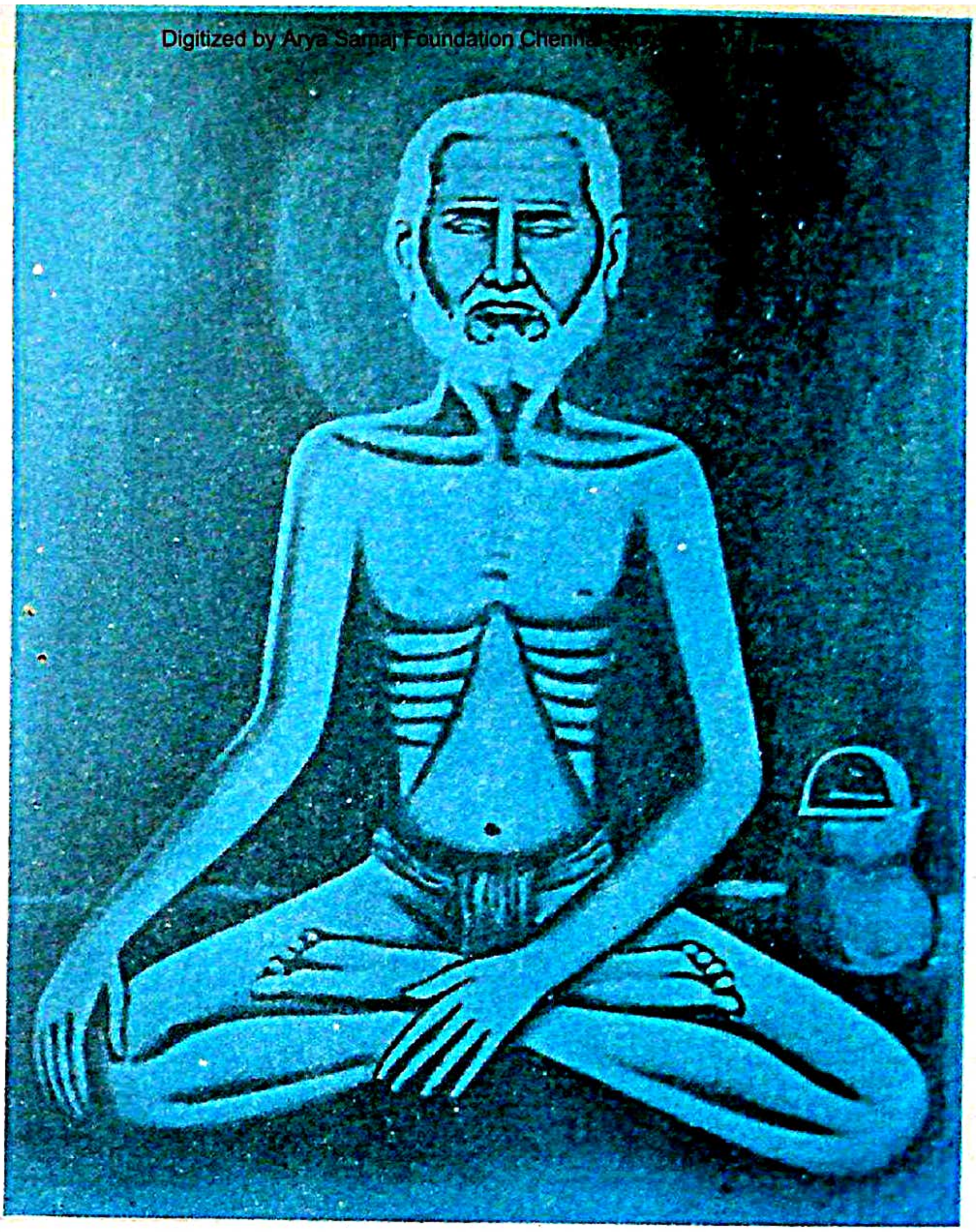
परन्तु दयानन्द के हृदय की ज्वाला शान्त नहीं हुई। न हिमालय के हिम ने वह आग बुझाई, न गंगा और नर्मदा के जलों ने ज्वाला को शान्त किया। कनखल में स्वामी पूर्णाश्रम अपने अगाध पाण्डित्य के लिए और गहन शास्त्र-चिन्तन के लिए विख्यात थे। जिज्ञासु दयानन्द ज्ञान की प्यास बुझाने के लिए उनकी सेवा में पहुंचे। परन्तु वे उस समय बहुत वृद्ध थे और अशक्ति के कारण प्रायः मौन ही धारण किए रहते थे। उन्होंने एक कागज़ पर लिख कर दयानन्द को मथुरा में दण्डी स्वामी विरजानन्द के पास जाने का परामर्श दिया।

स्वामी पूर्णाश्रम ने दयानन्द को विरजानन्द के पास जाने का परामर्श कोरे विद्याध्ययन के लिए ही नहीं दिया था। दयानन्द में जो तेजस्विता और अखण्ड राष्ट्रभक्ति की ज्वाला उन्हें दृष्टिगोचर हुई, उसके कारण उन्हें विरजानन्द के पास भेजना ही उचित था। सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति के सूत्रधारों से विरजानन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था और स्वामी पूर्णाश्रम भी उसी प्रकार की विचारधारा वाले संन्यासी थे। इसलिए उनका उक्त परामर्श सुसंगत लगता है।

इसके अतिरिक्त अपनी पाठशाला के लिए विरजानन्द ने मथुरा को ही क्यों चुना था, इसमें मथुरा की भौगोलिक स्थिति भी एक प्रमुख कारण थी। मथुरा महाभारत के समय से देश की राजनीति को प्रभावित करने वाला क्षेत्र रहा था। उसके उत्तर-पश्चिम की ओर भारत का भाग था जो हिमालय तक चला गया था और दक्षिण पश्चिम की ओर राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र पड़ता था। सन् १८५७ की राज्यक्राति में इन्हीं प्रदेशों ने अधिक भाग लिया था। इस प्रकार मथुरा स्थित यह पाठशाला एक प्रकार से विचार-क्रान्ति का केन्द्र थी।

दयानन्द ने अपने हृदय का ताप बुझाने के लिए इसी क्रान्ति-केन्द्र विद्या-स्रोत की ओर प्रस्थान किया और मथुरा-पहुंच कर विरजानन्द की कुटी का द्वार खटखटाया।





कौन थे यह स्वामी विरजानन्द ? पंजाब के कर्तारपुर नामक कस्बे के निकट गंगापुर में नारायणदत्त सारस्वत ब्राह्मण के घर जिस बालक का जन्म हुआ था उस पर बचपन में ही विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। पांच वर्ष की अवस्था में चेचक से आंखें चली गईं। ११ वर्ष की अवस्था में माता-पिता अनाथ करके चले गए। बड़े भाई और भावज ने इस अंधे और अनुपयोगी भाई को अपने ऊपर बोझ समझा। फलतः एक दिन बालक को अपने घर से निकलना पड़ा।

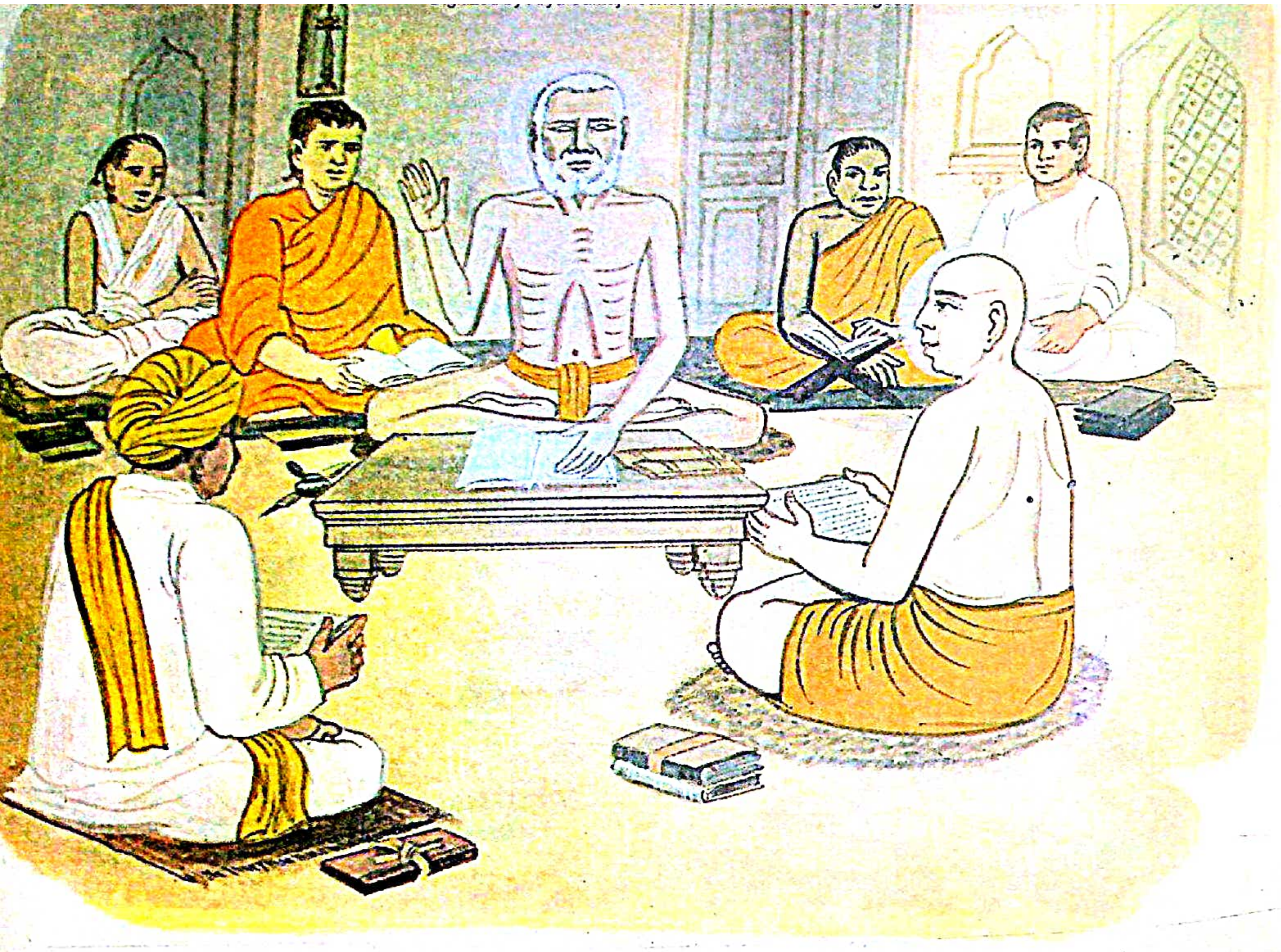
बालक की स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी। जो कुछ सुनता, उसे तत्काल याद हो जाता। कनखल, हरिद्वार, ऋषिकेश और काशी आदि स्थानों में चिरकाल तक विद्या पढ़ता रहा। यही बालक आगे चलकर विरजानन्द कहलाया।

स्वयं विद्याध्ययन करके और संन्यास लेकर स्वामी विरजानन्द ने विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे उनका यश चारों ओर फैलने लगा। व्याकरण के वे अद्वितीय विद्वान् थे। उनका उच्चारण इतना शुद्ध था और श्लोक-गान इतना मधुर था कि उससे प्रभावित होकर महाराज अलवर ने उनसे अपने यहां चलने का अनुरोध किया। स्वयं महाराज प्रतिदिन तीन घण्टे विद्याध्ययन करने आवें—इस शर्त के साथ विरजानन्द अलवर गए। परन्तु विलासी राजा अपना प्रण निभा न सका। जिस दिन राजा पढ़ने नहीं आया, उससे अगले दिन ही दण्डी जी ने अपना आसन वहां से उठा लिया।

कुछ दिन तक दण्डी जी रजवाड़ों में घूमते रहे। अपने जीवन के उत्तरार्ध में जिस आकांक्षा को लेकर ऋषि दयानन्द रजवाड़ों का चक्कर लगा रहे थे, कौन जाने, दण्डी जी की भी वैसी ही मंशा रही हो। बाद में उन्होंने मथुरा में अपना आसन जमाया।

धीरे-धीरे उनके पाण्डित्य की इतनी ख्याति हो गई कि दूर-दूर से, यहां तक कि काशी से भी, विद्यार्थी उनके पास पढ़ने के लिए आने लगे।

जिस प्रकार दयानन्द अमृत की प्यास में भटकता रहा, उसी प्रकार विरजानन्द भी बहुत भटके। जिसने किसी निश्चित उद्देश्य के लिए तपस्या न की हो और अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए शरीर न गलाया हो, वह इस पीर के मर्म को नहीं समझ सकता। इस दृष्टि से देखने पर स्वामी विरजानन्द दयानन्द के गुरु बनने के पूर्णतः अधिकारी थे।



जिस समय दयानन्द ने दण्डी स्वामी का द्वार खटखटाया और उनके चरणों में बैठ कर विद्याध्ययन करने की इच्छा प्रकट की, तब दण्डी जी ने पूछा—'क्या कुछ व्याकरण पढ़ा है ?'

दयानन्द ने उत्तर दिया—'सारस्वत पढ़ा है।'

इस पर आदेश हुआ कि पहले सब अनार्ष ग्रन्थ यमुना में प्रवाहित कर दो, तभी आर्ष ग्रन्थ पढ़ने के अधिकारी बन सकते हो। शिष्य की बड़ी कठिन परीक्षा थी। चंद पुस्तकों के सिवाय उसकी और सम्पत्ति ही क्या थी ? और उन पुस्तकों को भी अपने हाथों से जल समाधि ? जैसे किसी को सर्वस्व त्याग करने के लिए कहा जा रहा हो।

शिष्य इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। उसने अपना जी कड़ा करके अपने पास की सब पुस्तकें यमुना की भेंट कर दीं और फिर खाली हाथ, सर्वात्मना गुरु को समर्पित होकर- चरणों में आकर बैठ गया।

दयानन्द ने अन्य शिष्यों के साथ विद्यामृत का पान आरम्भ कर दिया।

बाल ब्रह्मचारी दयानन्द का विद्यार्थी-जीवन भी अनुकरणीय था। प्रातः काल उठकर नित्यकर्म से निवृत्त होकर पहले गुरु जी के स्नानार्थ नदी से जल लाते, फिर स्वयं सन्ध्योपासना करते और स्वाध्याय में लग जाते। कुछ उदार दानी महानुभावों ने उनके भोजन की और यमुनातट के विश्राम घाट पर एक छोटे से कमरे में रहने की व्यवस्था कर दी थी।

दयानन्द ने दण्डी जी से अष्टाध्यायी और महाभाष्य के अलावा अन्य आर्षग्रन्थों का भी अध्ययन किया। दण्डी जी का यह दृढ़ मत था कि मनुष्यकृत ग्रंथों में सार कम और शब्दाडम्बर ज्यादा होता है, जबकि ऋषिकृत ग्रन्थों में सार ही सार कूट-कूट कर भरा होता है।

परन्तु ग्रन्थों का अध्ययन ही सब कुछ नहीं था। इन ग्रन्थों से बढ़कर एक दृष्टि थी—जो गुरु विरजानन्द ने दयानन्द को दी थी। वह दृष्टि थी—नीर-क्षीर का विवेक करने वाली, सत्य-असत्य को पहचानने वाली और पाखण्ड तथा अन्धविश्वासों को निरस्त करने वाली। दयानन्द के मन में ज्वाला पहले से ही जागृत थी, गुरु विरजानन्द ने उस का परिष्कार करके उसे उचित दिशा प्रदान की। दयानन्द इस तत्वान्वेषी दृष्टि के लिए अपने गुरु का जन्म भर आभारी रहा।

तीन साल तक दयानन्द ने विरजानन्द की पाठशाला में विद्या ग्रहण की।

अध्ययन-काल समाप्त हुआ, तो गुरुदक्षिणा के रूप में कुछ लौंग लेकर दयानन्द गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ और बोला : "गुरुवर ! मेरे पास और तो कुछ है नहीं, जो आपको भेंट करूं। आपको लौंग बहुत पसंद है, इसलिए यह आध सेर लौंग कहीं से मांग कर लाया हूँ और आपकी सेवा में उपस्थित हूँ।"।

गुरु ने एक लौंग हाथ में उठाकर कहा : "लौंग तो बाज़ार में कहीं भी मिल जाएगी। दयानन्द ! मैं तुझसे वही चीज़ चाहता हूँ जो तेरे पास है और तेरे सिवाय और किसी के पास नहीं है।"

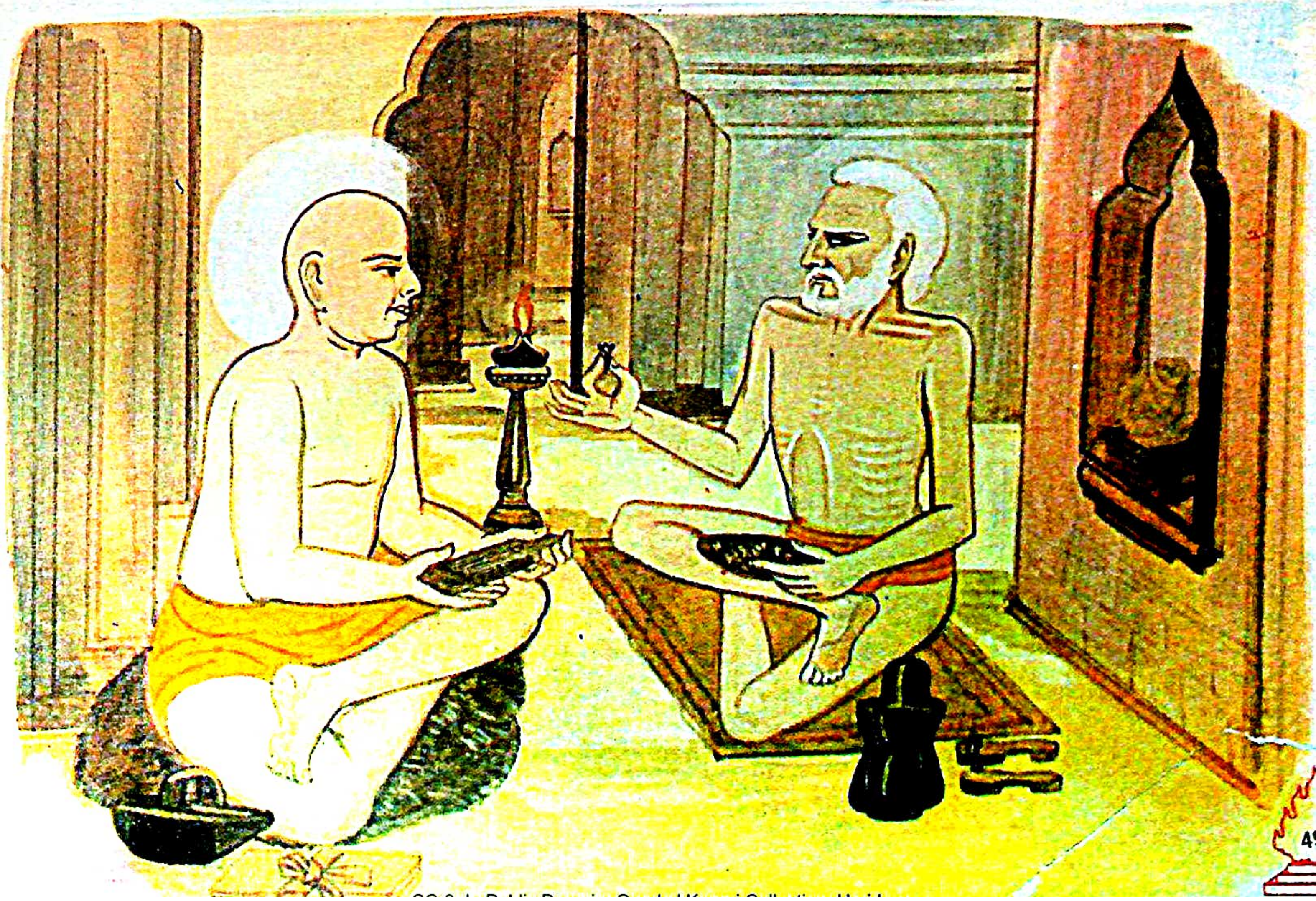
दयानन्द ने विनम्रता-पूर्वक कहा—"गुरुवर ! आप आदेश कीजिए, मेरे पास ऐसी कोई चीज़ नहीं जो मैं आपको भेंट न कर सकूं।"

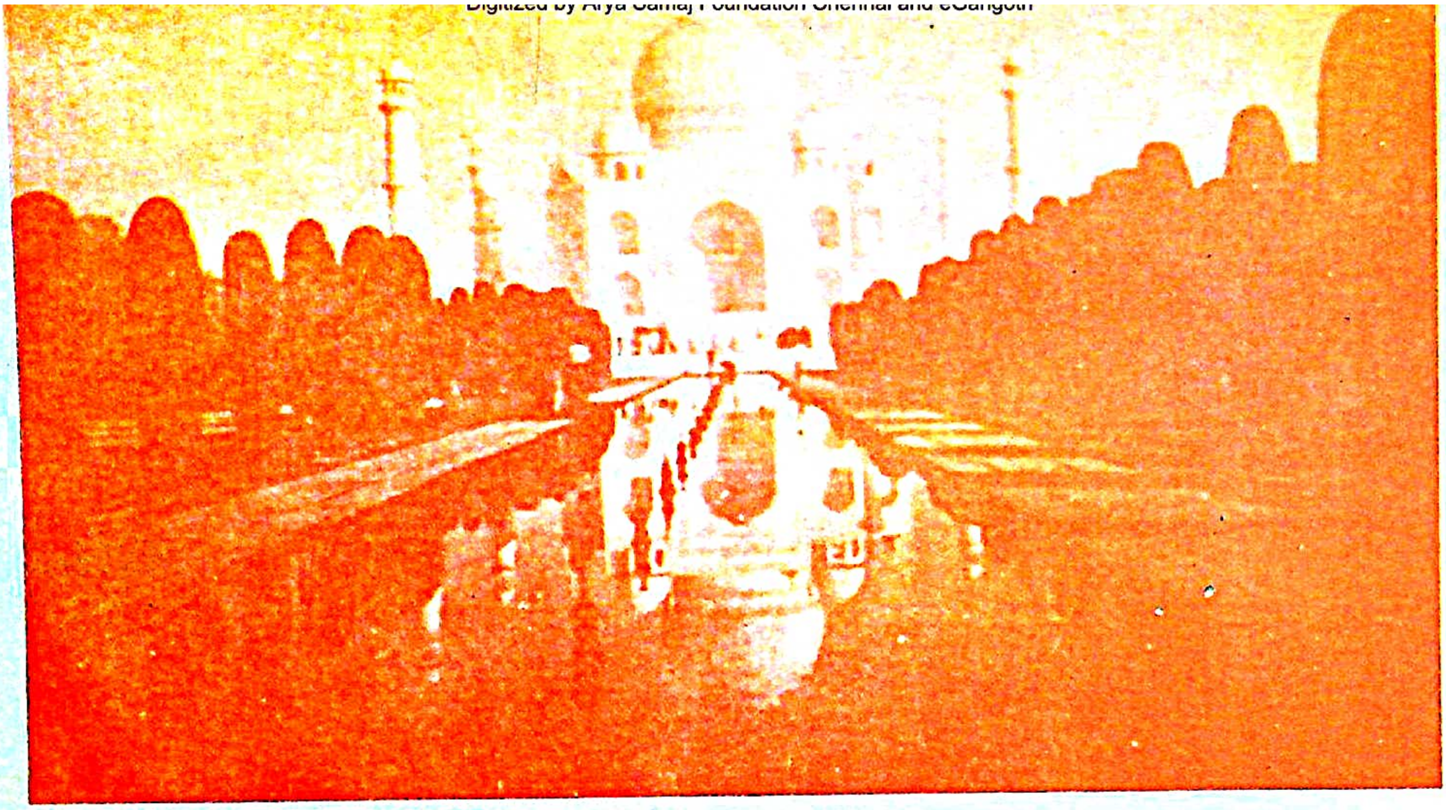
दण्डी स्वामी ने कहा : "दयानन्द ! मैंने तेरे हृदय में एक ज्वाला के दर्शन किए हैं और उस ज्वाला को अपनी ओर से दिशा देने का प्रयत्न किया है। वह है ज्ञान की ज्वाला, सत्यान्वेषण की ज्वाला। सत्य धर्म की ज्वाला से अवैदिक मतमतांतरों के अंधकार को मिटाओ और वैदिक धर्म को फैलाओ। देश का उपकार करो और मानव-जाति का उद्धार करो। वत्स दयानन्द ! बस यही गुरुदक्षिणा मैं तुझसे चाहता हूँ। अन्य किसी सांसारिक वस्तु की मुझे इच्छा नहीं।"

जो वस्तु पर्वतों की चोटियों पर, वनों की स्तब्धता में, नदियों के प्रवाह में और साधु-महात्माओं तथा महन्तों के डेरों में ढूंढने पर भी नहीं मिली, वह अमृत के प्यासे दयानन्द को मथुरा नगरी में दण्डी विरजानन्द के चरणों में मिली। उस विवेक-बुद्धि को गांठ बांधकर बाल ब्रह्मचारी दयानन्द ने गद्‌गद् कण्ठ से कहा—"तथास्तु।"

विरजानन्द ने पुलकित होकर दयानन्द के सिर पर हाथ रखा और बारम्बार आशीर्वाद देते हुए कहा—"बहुत अच्छा। अब जाओ, ईश्वर तुम्हारा मनोरथ सफल करे।"

अन्त में इतना और कहा—"दयानन्द ! यह सदा स्मरण रखना कि मनुष्यकृत ग्रन्थों में परमात्मा और ऋषिमुनियों की निन्दा होती है, परन्तु ऋषिकृत ग्रन्थों में इसका लेश भी नहीं होता। आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों की यही एक कसौटी है। इस कसौटी को कभी मत छोड़ना।"





जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अगस्त्य मुनि के आश्रम से दिव्य अस्त्र-शस्त्र-सम्पन्न होकर जन-कल्याण के लिए अग्रसर हुए थे, वैसे ही दण्डी स्वामी विरजानन्द की कुटी से बालब्रह्मचारी दयानन्द विद्या के अलौकिक शस्त्रों से सुसज्जित हो कर कर्मक्षेत्र की ओर उन्मुख हुए।

मथुरा से दयानन्द आगरा आए। वही आगरा जो मुगलकाल में कभी भारत की राजधानी रहा और जहाँ संसार का आठवां आश्चर्य समझा जाने वाला ताजमहल आज भी शान से गर्दन उठाए ज्यों का त्यों खड़ा है। उस युग में हाईकोर्ट भी आगरा में था, इसलिए इस नगर में और विशेष चहल-पहल रहती थी।



यह वही नगर था जहां स्वामी दयानन्द सरस्वती गुरु देव के आदेशानुसार संसार के उपकार और देश के उद्धार के निमित पुनः पहली बार दुनिया में प्रविष्ट हुये थे। ताजमहल कीशोभा तो वर्णनातीत है। फ्रेंच यात्री डा० बर्नियर ने इसका वर्णन करते हुए अपनी यात्रा पुस्तक में लिखा था :—

"सैंकड़ों तरह के दालानों और महरावों पर जो एक दूसरे पर बने हुए हैं यह इमारत बनी है। देखने में यह बहुत ही सुन्दर है और इसकी बनावट भी बहुत अच्छी है। इस में कोई स्थान ऐसा नही है जो देखने में भद्दा मालूम हो बल्कि सारी इमारत ही सुन्दर बनी है और उसे देखने से कभी जी नहीं भरता। अन्तिम बार जब मैंने उसे देखा तो उस समय मेरे साथ एक फ्रांसीसी व्यापारी था। मुझे भय था कि बहुत दिनों तक भारत रहने के कारण कदाचित मेरी समझ कुछ बदल गयी और इसी कारण मैंने अपनी सम्मति उस पर प्रकट न की। पर एक ऐसे व्यक्ति से जो हाल भी में फ्रांस से आया था मैं यह सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ कि सारे युरोप में उसने ऐसी सुन्दर और शानदार इमारत कभी नहीं देखी। यह इमारत संसार की विचित्र चीजों में गिने जाने के लिये अधिक उपयुक्त है। इस में कारीगिरी और कला-कौशल का बहुत ही अधिक समावेश है।"

मूर्ति पूजा क्यों वर्जित है ?

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः
(यजु—३२/३)

जिसका (परमात्मा का) महान् यश है उसकी कोई प्रतिमा (मूर्ति) नहीं।

— तीर्थ, पशुयज्ञ, लकड़ी, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों में जिनके मन लगे हैं वे मनुष्य मूढ़ और अज्ञानी हैं।
—महाभारत

— वात, पित्त, कफ तीन मलों से बने हुए शरीर में जो आत्म-बुद्धि, स्त्री आदि में स्वबुद्धि पृथ्वी आदि से बनी हुई मूर्ति में पूज्य बुद्धि और पानी में तीर्थ देखता है, वह मनुष्य गोखर (गऊओं का चारा ढोने वाला, गधा) है।



आगरा में यमुना तट पर स्थित भैरव मन्दिर के निकट एक उद्यान में दयानन्द ठहरे। वहीं एक और साधु भी रहता था। जब उसने दयानन्द जैसे तेजस्वी और विद्वान् परमहंस साधु के उद्यान में निवास की सूचना नगर के प्रतिष्ठित जनों को दी, तो बहुत से नगरवासी स्वामी जी के पास आने लगे।

आगरा में दयानन्द जब तक रहे, तब तक नियमपूर्वक योगाभ्यास करते रहे। जो भक्तजन उनसे व्याकरण आदि पढ़ना चाहते, उन्हें सहर्ष पढ़ाते और कभी-कभी किसी धर्मग्रन्थ की कथा भी किया करते।

उस समय भारत देश और आर्य-जाति की दशा स्वयं मुक्त कण्ठ से चिल्ला-चिल्ला कर कह रही थी कि उसे एक सबल सुधारक की आवश्यकता है।

दयानन्द के पास अगाध पाण्डित्य था, अखण्ड ब्रह्मचर्य का बल था, और प्रबल उत्साह था। साथ ही साधुओं के पाखण्ड और विद्वानों के आपसी मतभेदों को देखकर वे धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र की विकृत अवस्था से भी पूर्णतः परिचित हो गए थे। परन्तु सुधार का कौन-सा कार्यक्रम अपनाया जाए, यह अभी तक उनके सामने स्पष्ट नहीं हुआ था।

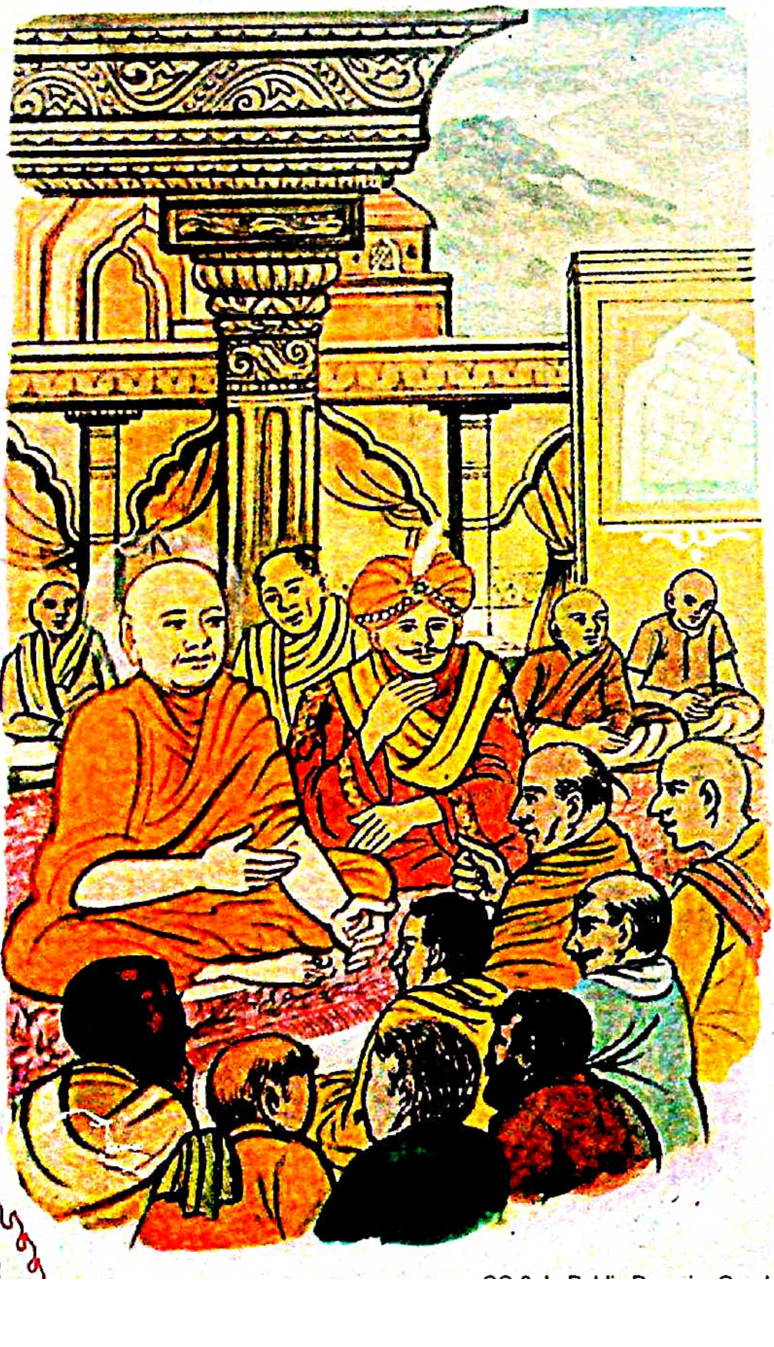
आगरा के वृहत् पुस्तकालय से पुस्तकें लेकर वे उनका स्वाध्याय करते। कभी कहीं कुछ शंका होती तो पत्र लिखकर या स्वयं श्रीचरणों में उपस्थित होकर गुरु विरजानन्द से समाधान प्राप्त करते। अपने एकान्त के क्षणों में वे अपने भावी कार्यक्रम पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते। परन्तु एक बात उस समय भी दयानन्द के सामने बिल्कुल स्पष्ट थी। वे मूर्तिपूजा को देश के धार्मिक अधःपतन का कारण मानते थे और इसलिए निस्संकोच होकर उसका खण्डन करते थे।

एक दिन चेतूलाल और कालिदास जैसे प्रसिद्ध पण्डितों से उनका वाद-विवाद हो गया जिसमें उन दोनों पण्डितों ने स्वामी जी के कथन की सत्यता को स्वीकार कर लिया, पर साथ ही यह भी कहा, कि गृहस्थियों की रोजी रोटी इसी से बंधी हुई है, इसलिए हम इसके विरुद्ध कुछ बोल नहीं सकते।

आगरा से धौलपुर होते हुए दयानन्द ने जिस समय ग्वालियर के लिए प्रस्थान किया उस समय ग्वालियर नरेश महाराजा जियाजीराव सिंधिया ने १०८ भागवत पाठ का आयोजन कर रखा था। महाराजा जियाजीराव बड़े धर्मनिष्ठ थे और युवराज की दीर्घायु के लिए तथा महारानी के गर्भस्थ शिशु की सुरक्षा के लिए उन्होंने यह आयोजन किया था। महाराजा ने स्वामी जी को भी भागवत पाठ के आयोजन में आमंत्रित किया, परन्तु स्वामी जी ने कहा कि यदि गायत्री का पुरश्चरण होता तो मैं आ सकता था, भागवत-पाठ में नहीं।

इसके बाद दयानन्द ने अपने निवास-स्थान पर निर्भीकता पूर्वक भागवत में वर्णित रासलीलाओं का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। भागवत पाठ में सम्मिलित कई धुरन्धर पण्डित और आचार्य भी वेष बदलकर स्वामी जी के प्रवचनों में आते और उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर लौटते।

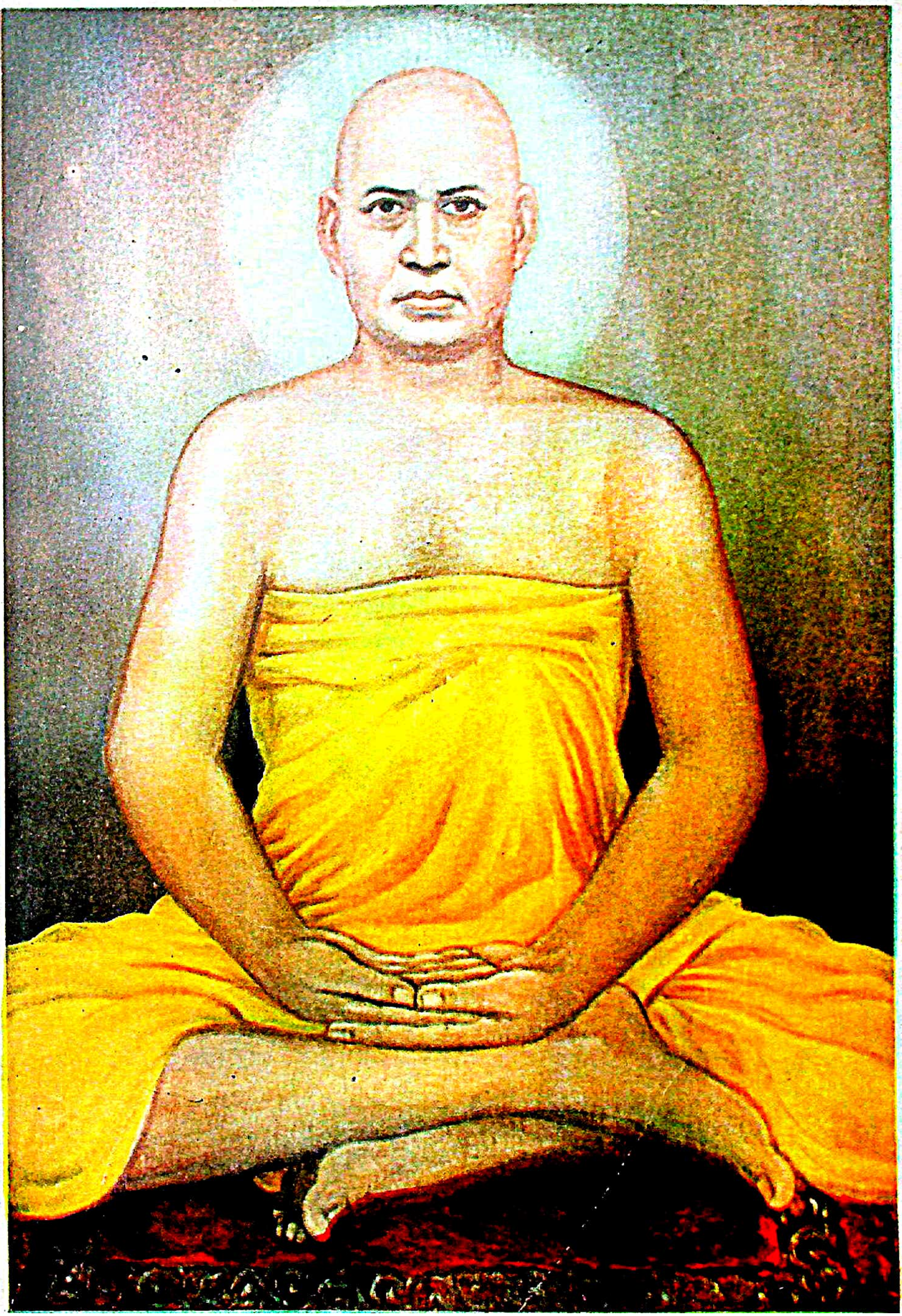
बाद में पता लगा कि जिस राजकुमार की दीर्घायु के लिए भागवत पाठ किया गया था, उसकी मृत्यु हो गई, महारानी को ५ मास का गर्भक्षय हो गया और उसी मास नगर में ऐसा भयंकर हैजा फैला कि लोग नगर छोड़-छोड़ कर भागने लगे।



स्वामी जी ने एक दिन कहा—

'देखो ! श्री कृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आर्य पुरुषों के सदृश है जिनमें कोई अधर्म्म का आचरण श्री कृष्ण जी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाए हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी लगाई, कुब्जा दासी से समागम, पर स्त्रियों से रास मंडल क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्री कृष्ण जी में लगाए हैं। इस को पढ़-पढ़ा सुन-सुनाके अन्य मत वाले श्री कृष्ण जी की बड़ी निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्री कृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों कर होती ?

ग्वालियर के महाराज ने अपने कर्मचारियों के द्वारा भागवत सप्ताह का माहात्म्य श्री स्वामी जी से पुछवाया था तो स्वामी जी ने निर्भीकतापूर्वक यह उत्तर दिया था कि, "ऐसे कार्यों के फल कष्ट कलेश से भिन्न कुछ नहीं हुआ करते।" यह सुनकर महाराजा ने हंसकर कहा था, "स्वामी जी सन्यासी है इसलिए चाहे जो कह सकते हैं परन्तु हम गृहस्थ हैं। हमें तो सब कुछ करना ही पड़ता है। अब तो वैसे भी सप्ताह की सामग्री का उपयोग पूर्ण कर लिया गया है।" स्वामी जी के सत्परामर्श को न मानने का जो फल हुआ वह उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित है।"





ग्वालियर के बाद दयानन्द लगभग एक सप्ताह तक करौली ठहरे और वहां से जयपुर पहुंचे।

वहां की संस्कृत पाठशाला के पंडित अपने आपको बड़ा तीसमारखां समझते थे स्वामी जी ने उनको १६ प्रश्न लिखकर भेजे परन्तु उन पंडितों से उन प्रश्नों का उत्तर देते न बना।

अचरौल के ठाकुर रणजीतसिंह साधु-सन्यासियों के, सत्संग के बड़े प्रेमी थे। साधु सन्तों में उनकी बड़ी भक्ति थी। वे राधाकृष्ण के नाम का जप करते और इसी के उपासक थे। बीकानेर के ठा० हमीरसिंह उनके मित्र थे। वे किसी मुकद्दमे में जयपुर आए हुए थे। उन्होंने ठा० रणजीतसिंह को स्वामी जी महाराज का परिचय देकर उनके उपदेशों से लाभ उठाने की प्रेरणा दी और कहा कि उनके उपदेश से सत्य का बोध हो जायगा। वह स्वामी जी के दर्शनों के लिये जयपुर आए और अचरौल पधारने के लिये बड़े सम्मान पूर्वक निमंत्रण दिया। स्वामी जी को लेने के लिये उन्होंने गाड़ी भेजी परन्तु स्वामी जी पैदल चलकर अचरौल पहुंच गए। स्वामी जी के सत्संग से ठा० रणजीतसिंह के सभी संशय मिट गये।



जयपुर में उन दिनों शैवों एवं वैष्णवों का परस्पर मनोमालिन्य चल रहा था महाराज रामसिंह का झुकाव शैव मत की ओर था। महाराज ने विशाल शास्त्रार्थ का आयोजन किया था। शैवों और वैष्णवों का शास्त्रार्थ हुआ। स्वामी दयानन्द शैवों के अनुनय विनय करने पर शैव पक्ष के समर्थन में बोले। स्वामी जी ने वैष्णव सम्प्रदाय की धर्म पुस्तकों से प्रमाण देकर इस सम्प्रदाय की समालोचना की तो जहाँ वैष्णवों को लज्जा और पराजय ने अभिभूत कर दिया वहाँ शैवों की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। स्वामी जी को यह सिद्ध करना था कि वैष्णव सम्प्रदाय बहुत आधुनिक एवं निर्मूल है तथा भद्र भी नहीं है। शैव लोग हर्ष से उछल रहे थे।

दयानन्द महिमा

(१)

कामना विज्ञानवादी मुक्ति की करने लगे, ध्यान द्वारा धारणा में ध्येय को धरने लगे।
आलसी, पापी, प्रमादी पाप से डरने लगे, अन्धविश्वासी सचाई धूल में भरने लगे।।
धूलि मिथ्या की उड़ादी, दंभ दाहक हो गया, देख लो लोगों दुबारा भारतोदय हो गया।

———

(२)

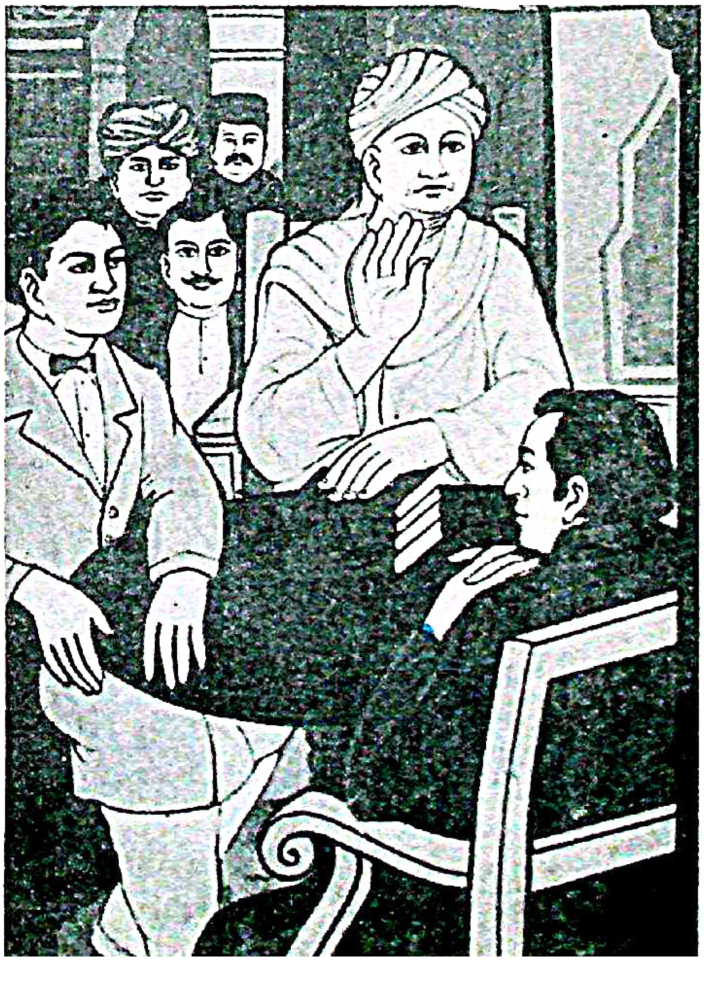
तर्क झंझाके झकोले, झाड़ते चलने लगे, युक्तियों की आग चेती जालिया जलने लगे।
पुष्प के पौधे फबीले फूलने फलने लगे, हाथ हत्यारे हठीले मादकी मलने लगे।

—रविशङ्कर

तभी अचानक यह अफवाह फैल गई कि महाराज अपने राज्य से वैष्णवों को निष्कासित कर रहे हैं और जमीन जायदाद छीन रहे हैं। इससे नगर की वैष्णव प्रजा आंतकित हो गई और शहर छोड़-छोड़ कर भागने लगी।

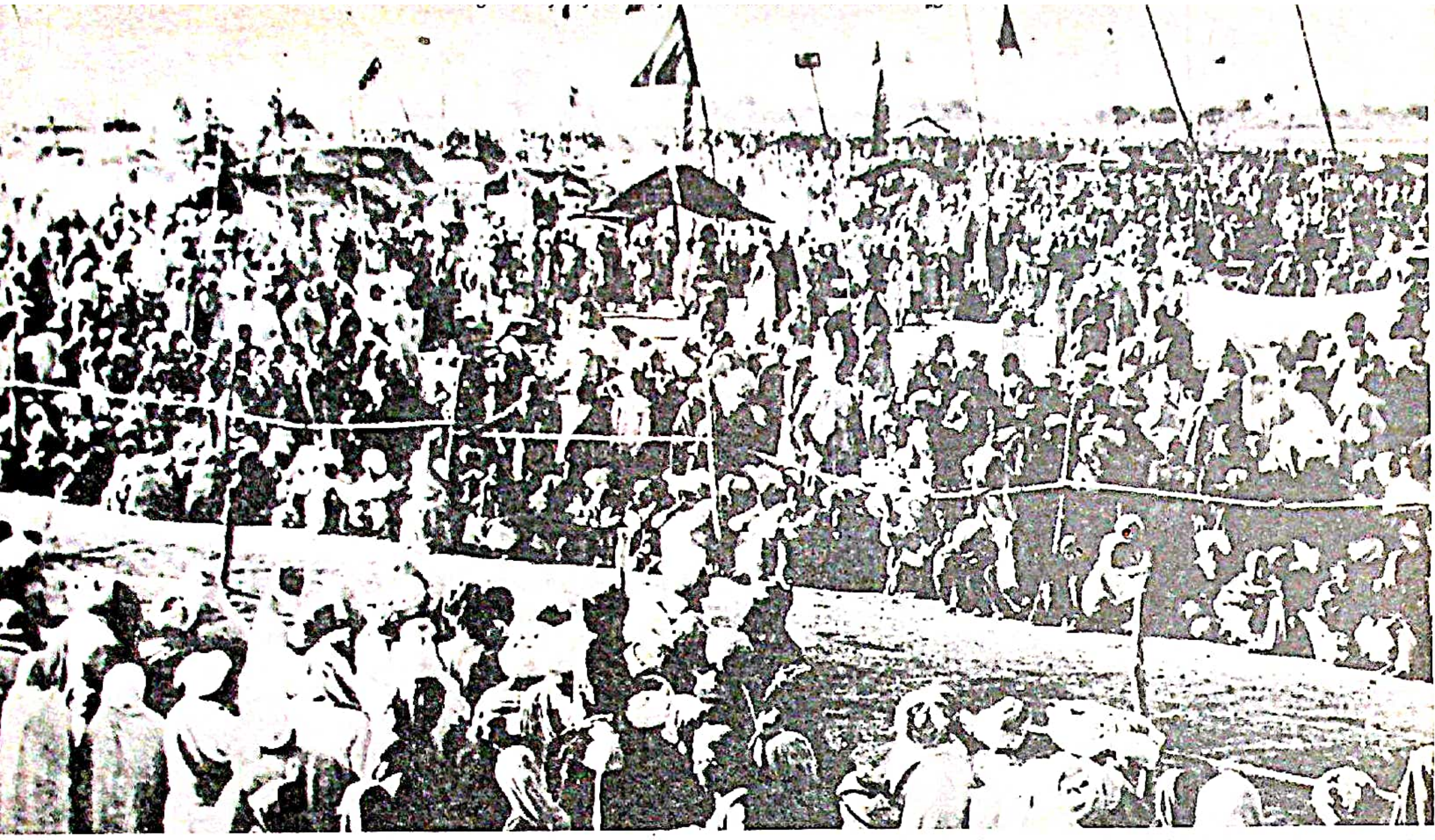
गोकुल जी के मन्दिर का अध्यक्ष श्री कृष्ण की मूर्ति को अपने साथ लेकर नगर से बाहर चला गया और सहस्रों नगर-वासी रोते-चिल्लाते उसके पीछे-पीछे गए।

अन्त में महाराज ने राज्य की ओर से यह घोषणा की कि हम वैष्णवों को अपने राज्य से नहीं निकालना चाहते, न ही उनकी सम्पत्ति जब्त करना चाहते हैं, उन्हें अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार जीवन-यापन की पूरी स्वतंत्रता रहेगी, राज्य की ओर से उसमें कोई बाधा नहीं होगी। तब कहीं शैव–वैष्णव का यह विवाद शान्त हुआ।



अजमेर में स्वामी जी का पादरी राबिन्सन और शूलब्रेड के साथ वार्तालाप हुआ। अजमेर के डिप्टी कमिश्नर मेजर ए० जी० डेविडसन और असिस्टेंट कमिश्नर अपटन साहब से भी भेंट हुई।

कर्नल ब्रुक अजमेर में गवर्नर जनरल के पोलिटिकल एजेन्ट थे। जिस उद्यान में स्वामी जी ठहरे हुए थे उसमें एक दिन कर्नल ब्रुक घूमने आए तो स्वामी जी से साक्षात्कार हुआ। स्वामी जी ने उनसे गोवध बन्द करने के बारे में बात की। अगले दिन कर्नल ब्रुक ने अपनी गाड़ी भेज कर स्वामी जी को अपने निवास स्थान पर बुलाया। वहां स्वामी जी ने कर्नल ब्रुक को गोरक्षा से लाभ और गोवध से हानि के बारे में विस्तार से समझाया। उस समय और भी कई विशिष्ट व्यक्ति उपस्थित थे। कर्नल साहब ने स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया कि गोवध हानिकारक है, परन्तु साथ ही कहा कि यह मेरे अधिकार-क्षेत्र से बाहर की बात है, इस विषय में आप सीधे लाट साहब (गवर्नर जनरल) से बात करें। उन्होंने लाट साहब के नाम स्वामी जी को एक चिट्ठी भी लिख कर दी।



जयपुर से पुष्कर, अजमेर, और आगरा होते हुए दयानन्द मथुरा पहुंचे। वहां गुरु विरजानन्द से फिर अनेक विषयों पर शंका-समाधान और विचार-विनिमय किया। इस विचार-विनिमय के बाद दयानन्द के मन में कार्यक्षेत्र में उतरने के बाद जो दुविधा और किंकर्तव्यविमूढ़ता थी, वह समाप्त हो गई। मन का रहा-सहा संशय भी जाता रहा। गुरु ने जैसे ज्ञानांजन शलाका से आंखों में रोशनी पैदा कर दी। अपने गुरु के साथ दयानन्द की यह अन्तिम भेंट थी।

दयानन्द नई प्रेरणा लेकर हरिद्वार की ओर रवाना हुए।

हरिद्वार पहुंच कर दयानन्द ने देखा कि गंगा के तट पर जैसे जनता का सागर उमड़ा पड़ रहा है। नाना प्रदेशों और नाना सम्प्रदायों के नर-नारी वहां एकत्र हैं। हरेक सम्प्रदाय के साधुओं का अपना अलग डेरा है, अपना अलग झण्डा। जिधर निकल जाओ, भीड़ ही भीड़।

हरिद्वार से तीन मील परे ऋषिकेश की ओर, स्वामी दयानन्द ने सप्तसरोवर में बाड़ा बांधकर, कुछ छप्पर डालकर, डेरा बनाया और वहां एक पताका गाड़ दी जिस पर लिखा था—'पाखण्ड खण्डिनी पताका।' उस समय कुछ ब्रह्मचारी और संन्यासी उनके साथ थे।

विचित्र थी यह पताका, अश्रुतपूर्व और अदृष्टपूर्व। लोग देखते और चकित होते—यह कैसी पताका है!

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हरिद्वार के कुंभ के मेले में सत्य के प्रचार के स्थान पर पाखंड खंडिनी पताका स्थापित कर दी और प्रतिदिन सत्य का उपदेश करना आरम्भ कर दिया।

जिस दिन साम्प्रदायिक धर्म की राजधानी में पौराणिक धर्म्म के केन्द्र में एक निर्भय आत्म-त्यागी महात्मा ने सत्य का नाद बजाया और पाखंड खंडिनी पताका स्थापित की वह दिन धर्म्म के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। वह पताका वैदिक धर्म की घोषणा थी। उस निराली पताका (झंडे) को देखकर लोग हज़ारों की संख्या में भीतर चले जाते और उनमें से बहुतेरे स्वामी जी के कथनों को स्वीकार कर लेते थे। उस सारे मेले में जहाँ सुनो महर्षि दयानन्द के प्रचार और पताका की चर्चा सुनाई देती थी। आज तक लोगों ने एक संन्यासी के मुख से मूर्ति पूजा का खंडन, श्राद्धों का निराकरण, अवतारों का थोथापन, पुराणों तथा उपपुराणों का काल्पनिक होना और पर्व स्नान माहात्म्य का मिथ्यात्व नहीं सुना था।

सतां परोपकाराय सम्भवन्ति विभूतयः

सज्जनों की विभूति परोपकार के लिए ही होती है।



स्वामी जी ने प्रतिदिन उपदेश देना प्रारम्भ किया—जिसमें उन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भागवत, तीर्थ, तिलक, कंठी, आदि का खण्डन किया।

सारे मेले में इस अद्‌भुत पताका की, इस अद्‌भुत संन्यासी की और उसके अद्‌भुत उपदेशों की चर्चा होने लगी। डेरे पर दिन भर मेला सा लगा रहता।

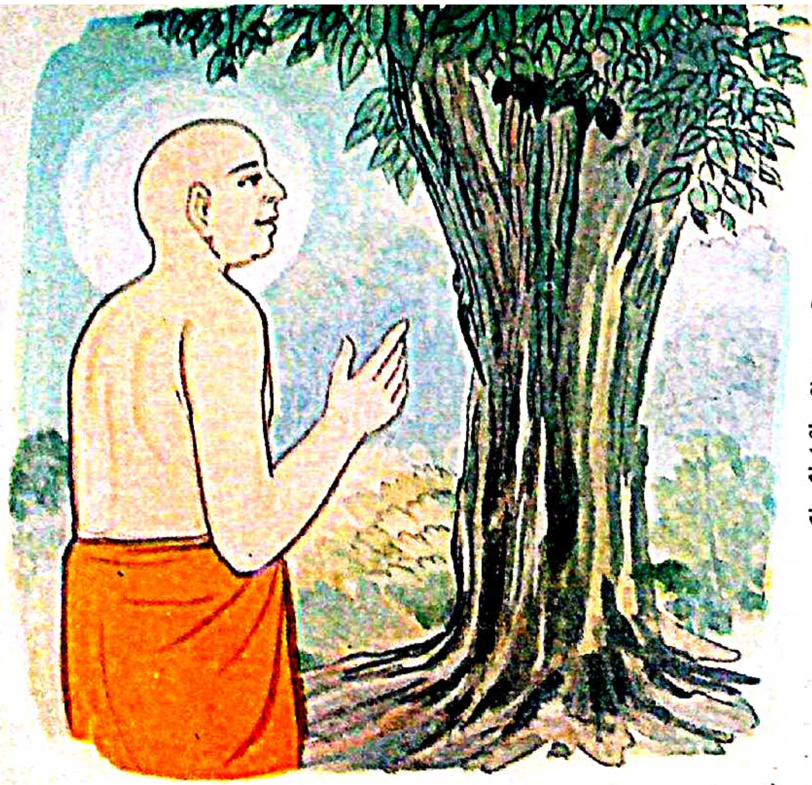
दर्शकों में सभी तरह के लोग होते—धर्म के ठेकेदार भी, विद्याभिमानी पण्डित भी, सामान्य गृहस्थी भी और वीतराग संन्यासी भी। दयानन्द के उपदेशों की सब पर अलग-अलग प्रतिक्रिया होती—कुछ पर अनुकूल और कुछ पर प्रतिकूल।

कुम्भ के अवसर पर स्वामी दयानन्द ने देखा कि जनता अन्धकार में फंसी हुई है और पण्डित लोग स्वार्थान्ध होकर लोगों को धर्म के नाम पर लूट रहे हैं। गृहस्थी लोग दुर्व्यसनों में फंसे हैं और साधु नाम के तो साधु हैं, पर गृहस्थियों से भी गए बीते हैं।

ऐसी दशा में स्वामी जी ने, जिनके मन में समाज के कल्याण और देश के हित की भावना लगतार तीव्र होती जाती थी, सोचा कि अन्य साधुओं की तरह रहने से काम नहीं चलेगा, मुझे सांसारिक मोह-माया से एक दम ऊंचा उठना चाहिए और अपनी वाणी में इतना बल पैदा करना चाहिए कि वह लोगों के हृदय को प्रभावित करती चली जाए।

उस समय सचमुच स्वामी जी महाराज ने अपने आपको अकेला अनुभव किया था। उन्होंने सोचा कि परोपकार एक महायज्ञ है। इसी को पूर्ण करने के लिये मैं दीक्षित हुआ हूँ। परन्तु यह सर्वोपरि यज्ञ तब तक सिद्ध न होगा जब तक पूर्णाहुति में सर्वं वै पूर्णं स्वाहा न किया जायगा।

प्रकृति के पुस्तकालय में स्वाध्याय करने वाले श्री स्वामी दयानन्द जी ने प्रण कर लिया कि ईश्वर कृपा से जितना ज्ञान मुझे प्राप्त है, धर्म प्रचार और लोकहित करते हुए उसे सफल बना दूंगा।



कभी-कभी वे एकान्त में किसी वृक्ष को सम्बोधित करके व्याख्यान देने लगते, वृक्ष से ही शास्त्रार्थ करने लगते। इस प्रकार सरस्वती के वरद पुत्र दयानन्द की वाणी और सान पर चढ़ गई।

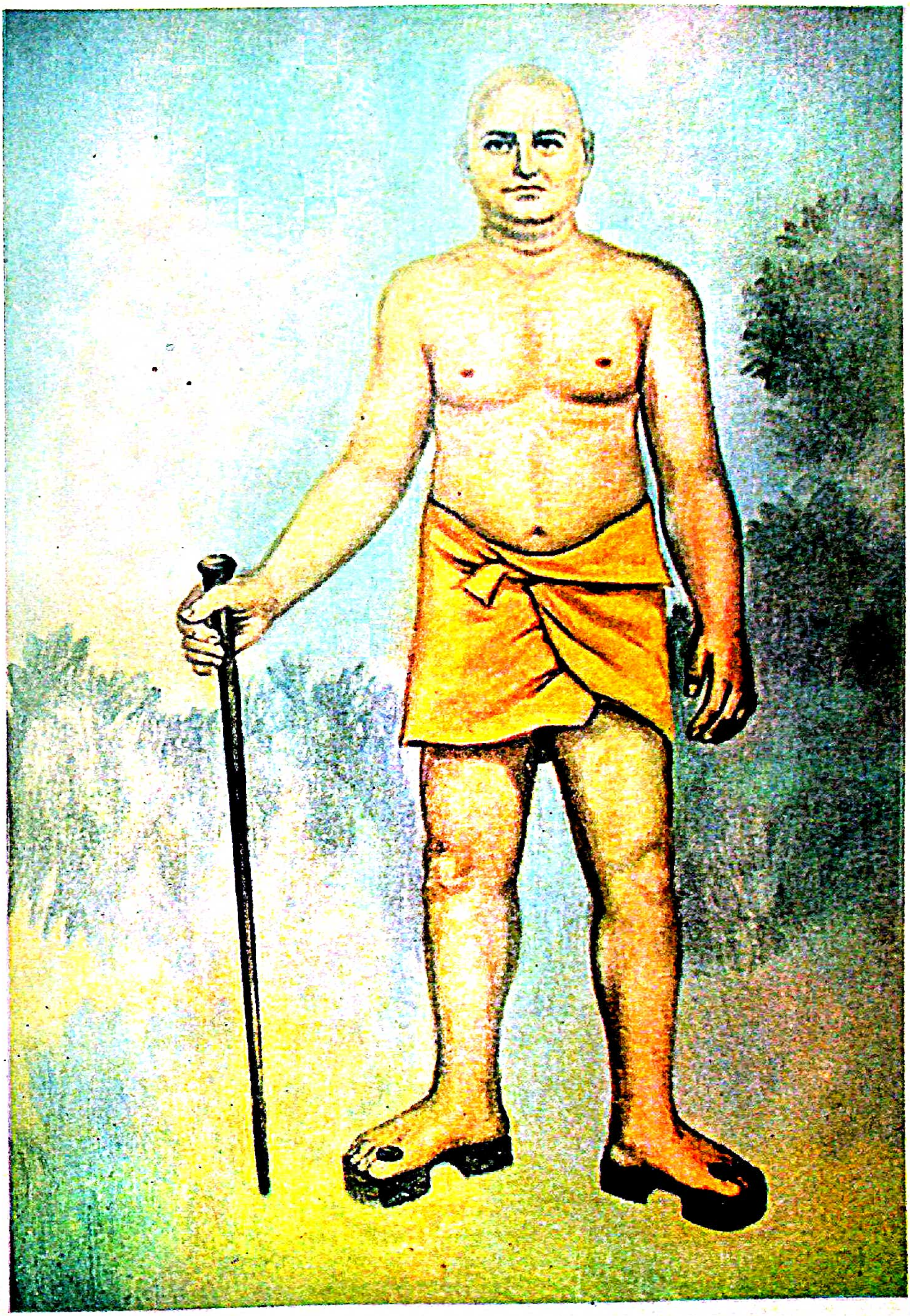
एक दिन व्याख्यान देते-देते इतने भाव विभोर हो गये कि "सर्वं वै पूर्णं स्वाहा" कहकर बीच में ही उठ खड़े हुए और जो कुछ उनके पास साज-सामान था, सब लोगों को बांटना प्रारम्भ कर दिया। अपने पास केवल एक कौपीन रखकर शेष सब कुछ बांट दिया और यह प्रण किया कि जब तक इष्टसिद्धि नहीं होगी तब तक गंगा-तट पर ही विचरण करूंगा और संस्कृत में ही भाषण करूंगा।

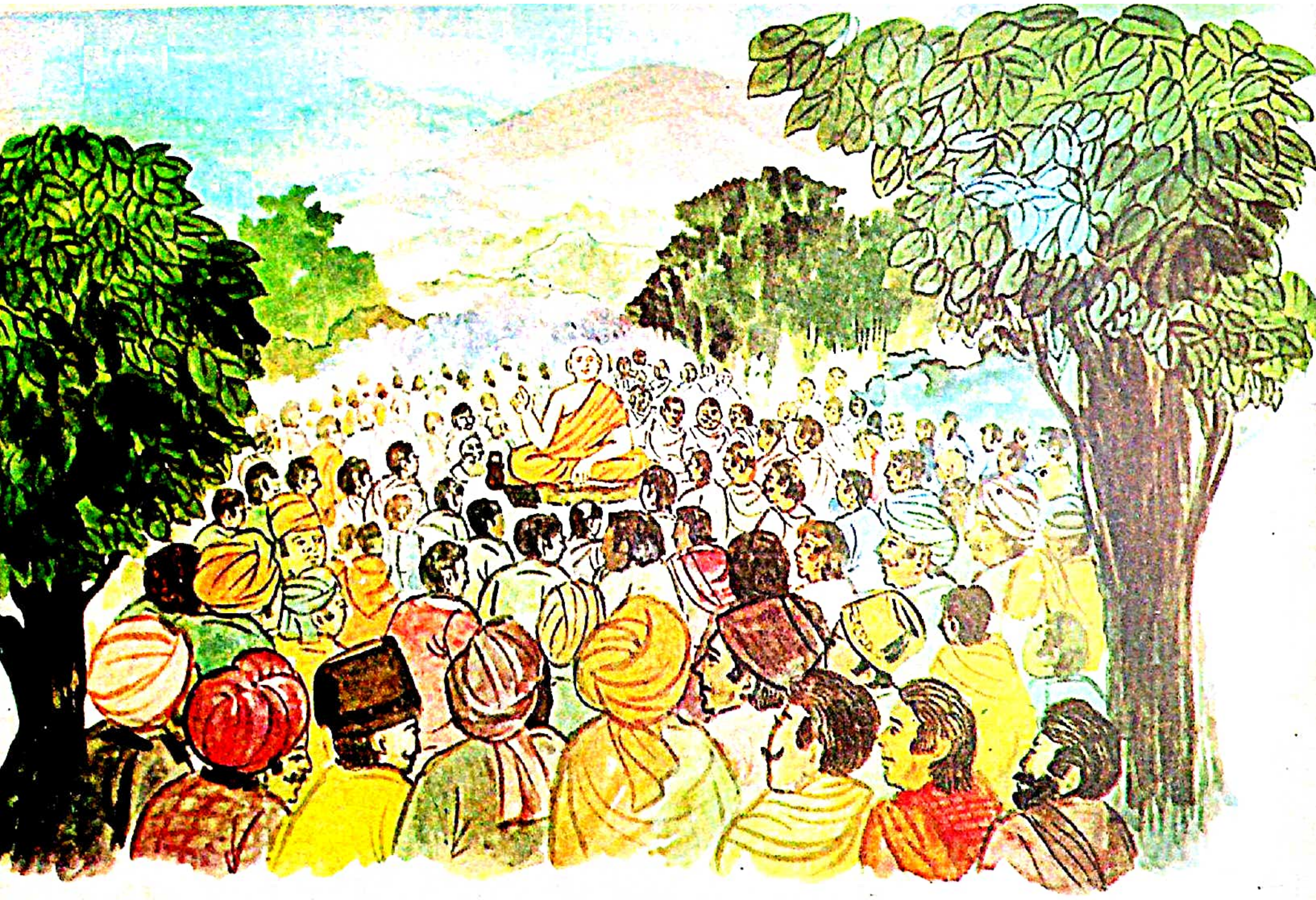
स्वामी जी के इस त्याग की पृष्ठ भूमि पर गंभीर विचार करते समय कुछ तथ्य सामने आ जाते हैं। आगरा, ग्वालियर, जयपुर, पुष्कर, अजमेर आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए उन्हें प्रत्यक्ष हो गया था कि स्वार्थी पंडे पुरोहित जन अपने पुरातन पुरुषों के पौरुष को खो चुके हैं। वे तो इतने असमर्थ हो गए हैं कि परोपकार के लिए एक साधारण सी सामयिक स्वार्थ की जंजीर तोड़ने का भी साहस नहीं करते। उस अंधकार और निराशा की रात में उन्हें आशा का एक टिमटिमाता हुआ दीपक दिखाई दिया था और वह था हरिद्वार में कुंभ के मेले में साधु-संन्यासियों का सम्मिलन। वह सोचते थे कि साधु-संन्यासी लोग घर-बार त्यागी हैं, विरक्त हैं। भिक्षा पर जीवित न रहने से स्वार्थ की कीचड़ से पार हो गए हैं। ब्रह्म चिन्तन के कारण आत्म-ज्ञानी और समदृष्टि है, लोभ मोह के बंधन तोड़ बैठे हैं। यदि वे जागृत हो जायें, पर हित कामना से कटिबद्ध होकर कार्य-क्षेत्र में उतर आएँ तो आर्य सन्तान के सिर पर से दुःख दारिद्रय के दिन दूर होते देर न लगेगी। उसकी उन्नति का सितारा फिर चमक उठेगा। आर्य धर्म्म का प्रचार, आर्य वर्त्त में ही क्यों देश-देशान्तरों में भी हो जायगा। सर्वत्र ही आर्य ग्रन्थों का पठन-पाठन प्रवृत्त हो जायगा परन्तु सारा बल लगाने पर भी वहाँ उस महामेले में एक भी सत्य का सहायक साधु सन्यासी न मिला था। इसी समय स्वामी जी के आत्म-निरीक्षण ने उन्हें सर्वस्व त्याग की प्रबल प्रेरणा दी थी।

जिसमें नहीं जातीय हित, पर सुधार उपकार।
धर्म भावना रहित जो, सो नरदेह असार॥

कुम्भ के मेले की समाप्ति पर और सर्वं वै पूर्णं स्वाहा करने के बाद स्वामी जी ऋषिकेश गये और वहाँ से लौटकर हरिद्वार, कनखल होते हुए लंढौरा पहुंचे। वहां वे तीन दिन से निराहार थे। भूख ने जब बहुत व्याकुल किया तो उन्होंने गंगा तट के पास के खेत के स्वामी से बैंगन मांगे और उससे तीन बैंगन लेकर भूख वेदना को शान्त किया।







सर्वस्व त्यागी, केवल कौपीनधारी, यह बाल ब्रह्मचारी इसी प्रकार उत्तरप्रदेश के गंगा तटवर्ती नगरों का भ्रमण करते-करते अपनी प्रचार यात्रा में संलग्न हो गए। उनकी वाणी में इतना बल आ गया कि जहां भी जाते, उनके व्याख्यान सुनने के लिए लोगों की भीड़ उमड़ पड़ती।

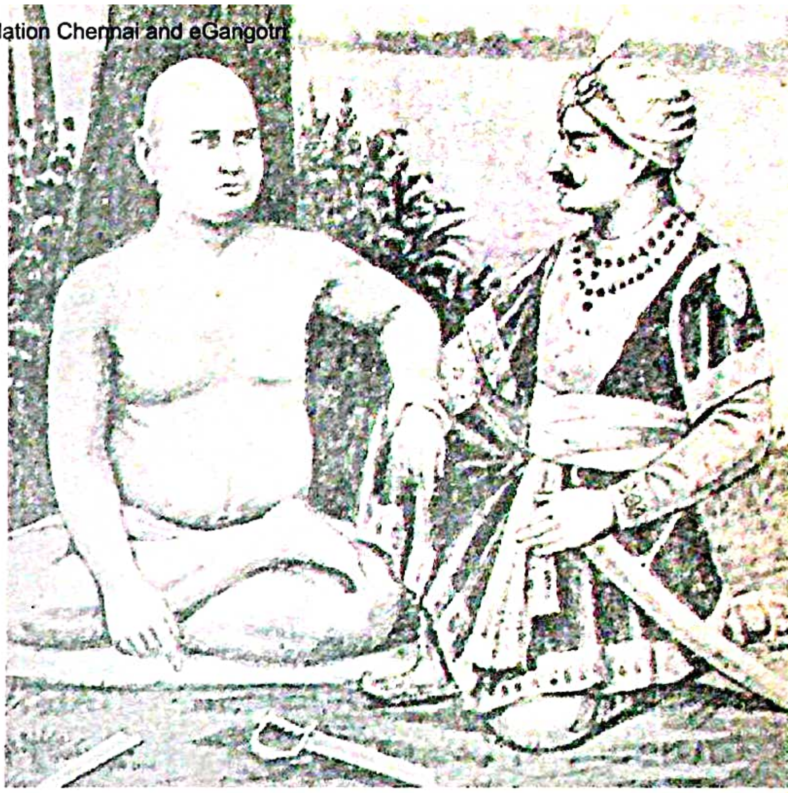
गढ़मुक्तेश्वर से अनूपशहर, बुलन्दशहर, फर्रुखाबाद होते हुए रामघाट पहुंचे। वहां एक सुविज्ञ ब्राह्मण पं० टीकाराम रहते थे। टीकाराम रहने वाले कर्णवास के थे, पर उन दिनों रामघाट आए हुए थे। पं० टीकाराम किसी से दयानन्द की चर्चा सुनकर उनकी सेवा में पहुंचे। वहां जो दयानन्द से वार्तालाप हुआ तो टीकाराम अनायास दयानन्द के बिना दाम के गुलाम बन गए। रोज ऋषि की सेवा में उपस्थित होते, रोज धर्मालाप होता। धीरे-धीरे टीकाराम के मन के सारे संशय दूर हो गए। उन्होंने अपने इष्टदेव की मूर्तियां गंगा में फेंक दीं और वे पूर्णतः स्वामी जी के अनुगामी हो गए।

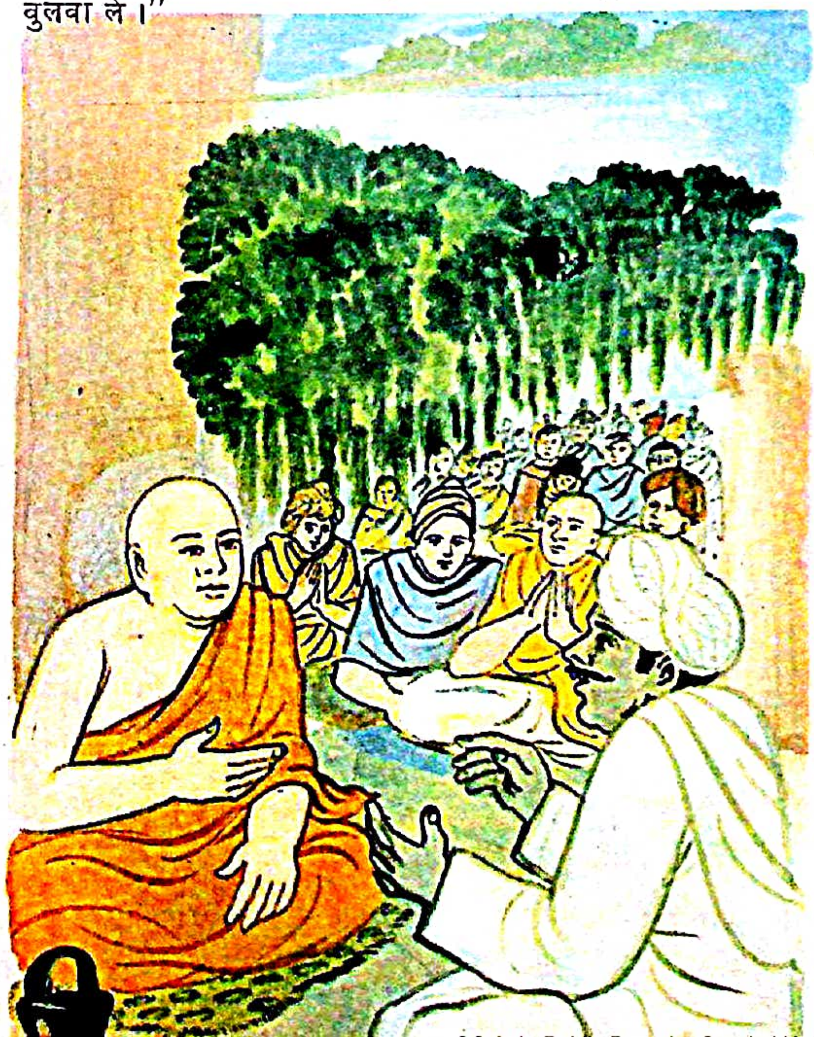
टीकाराम को जो धर्म का अक्षय कोश मिल गया था उसको उसने कृपण की तरह नहीं रखा, प्रत्युत कर्णवास जाकर अपने यजमान ठाकुर गोपाल सिंह आदि से स्वामी जी की अगाध विद्या की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि मुझे स्वामी जी ने सन्ध्या-गायत्री और अग्निहोत्र का उपदेश दिया है, मैंने मूर्तिपूजा छोड़ दी है और अब मैं आपके मन्दिर में पुजारी का काम नहीं करूंगा।

कर्णवास के ठाकुर लोग अपने पुजारी की ऐसी बात सुनकर उस अद्भुत संन्यासी के दर्शन को उत्सुक हो उठे और स्वामी जी को लाने के लिए टीकाराम को रामघाट भेजा।

जब स्वामी जी कर्णवास आए तो उनकी भव्य मूर्ति के दर्शन और उपदेश श्रवण कर क्षत्रिय वर्ग तथा अन्य सामान्य जन कृतकृत्य हो गए। स्वामी जी के यश की सुगंधि चारों ओर तेजी से फैलने लगी।

बरोली के रईस राव कर्णसिंह गंगास्नान के लिए कर्णवास आए थे। वे वृन्दावन के वैष्णवाचार्य रंगाचार्य के शिष्य थे और मस्तक पर तिलक छाप लगाते थे। ख्याति सुनकर वे भी स्वामी जी के डेरे पर आए। स्वभाव के उग्र थे ही, इसलिए जब उन्हें पता लगा कि स्वामी जी तिलक छाप का खण्डन करते हैं तो वे अन्दर से उत्तेजित होकर स्वामी जी से बोले, "तुम गंगा जी को नहीं मानते ?" स्वामी जी ने कहा, "जितनी है, उतनी मानते हैं।" तब राव कर्णसिंह ने गंगा-स्तुति के कुछ श्लोक सुनाए। स्वामी जी ने कहा कि पीने के पानी से या स्नान के पानी से मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष तो कर्मों से मिलता है। फिर स्वामी जी ने उसके मस्तक के तिलक छाप की ओर संकेत करते हुए कहा—"तुमने क्षत्रिय होकर मस्तक पर यह भिखारियों का चिन्ह क्यों धारण किया है ?" इस पर कर्णसिंह ने उद्दण्डता प्रारम्भ की। स्वामी जी रौब में या धमकी में आने वाले नहीं थे। उत्तर में उन्होंने चक्रांकित सम्प्रदाय का खण्डन करते हुए इतना और कहा : "तुम कैसे क्षत्रिय हो जो रामलीला में लौंडों का स्वांग भरवा, महापुरुषों की नकल उतरवा, उनको नचवाते हो।' इस पर कर्णसिंह आगबबूला हो गया क्रोध में उसके नथुने फड़कने लगे और उसने झपटकर अपने कटि प्रदेश में लटकती तलवार म्यान में से निकाल ली। वह वार करता, इससे पहले ही स्वामी जी ने उसकी तलवार छीन कर उसके दो टुकड़े कर दिए और सिंह के समान गरजते हुए कहा—"अरे धूर्त ! यदि लड़ना है तो किसी क्षत्रिय राजा से जाकर लड़ और यदि शास्त्रार्थ करना है तो अपने गुरु रंगाचार्य को वृन्दावन से बुलवा ले।"





जिस समय यह घोर घटना घटित हुई उस समय स्वामी जी के पास कोई पचास मनुष्य बैठे थे। वे सब राव कर्णसिंह के कुकर्म की निन्दा करते हुए स्वामी जी के पास गए और कहने लगे कि राज कर्मचारियों को सूचना देकर इसका पूरा परिणाम निकलवाना चाहिए।

स्वामी जी ने कहा "हम अभियोग कदापि न चलायेंगे। हमारा धर्म तो संतोष करना है। यदि वह अपने क्षत्रित्व का पालन नहीं कर सका तो हम अपने ब्राह्मणत्व से क्यों गिरें। जो धर्म का हनन करता है अन्त में उसका अपना ही हनन हो जाता है।

धर्म्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षितः।

(मनु—)

स्वामी जी महाराज ने कर्णसिंह की तलवार के दो टुकड़े करते और राव का हाथ पकड़ते हुए महान मर्यादा की रक्षार्थ जो कहा था वह स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है। उन्होंने कहा था—

"क्या तुम चाहते हो कि मैं भी आततायी पर प्रहार कर बदला लूं। मैं सन्यासी हूँ तुम्हारे किसी भी अत्याचार से चिढ़कर तुम्हारा अनिष्ट चिन्तन न करूंगा। जाओ ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करे।"

कर्णवास से स्वामी जी अतरौली, जलेसर, सोरों, पीलीभीत, शहबाजपुर और कायमगंज होते हुए फर्रुखाबाद पहुंचे।

शहबाजपुर में स्वामी जी को अपने गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्दजी के स्वर्गवास का समाचार मिला। स्वामी जी के मुख से हठात् ये शब्द निकले : "आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।" स्वामी जी ने धार्मिक क्षेत्र में जो कार्य किया उसमें दण्डी जी का श्रेय कम नहीं है। इसीलिए स्वामी जी की अपने गुरु के प्रति अगाध भक्ति थी।

फर्रुखाबाद में स्वामी जी काफ़ी दिनों तक रहे। वहां भी उन्होंने बलपूर्वक कुरीतियों और अन्धविश्वासों का खण्डन किया। वहां गोपाल नाम का एक पण्डित शास्त्रार्थ के लिए आया, पर जब स्वामी जी के सामने उसकी कुछ पेश न चली, तो वह बनारस जाकर वहां के पण्डितों से मूर्तिपूजा के पक्ष में व्यवस्था ले आया।

जनता पर इस व्यवस्था का भी कोई असर न हुआ। तब स्वार्थी व्यक्तियों ने कानपुर से पं० हलधर ओझा को बुलवाया। ओझा व्याकरण का अच्छा विद्वान् था, इसलिए वह जानबूझ कर शास्त्रार्थ के विषय को खींचकर व्याकरण की परिधि में ले गया। उसे पता नहीं था कि दयानन्द भी 'व्याकरण के सूर्य' का अनुपम शिष्य ही नहीं, स्वयं भी व्याकरण का दिग्गज विद्वान् है। ओझा की व्याकरण में भी हार हुई और इस तथ्य को वहां के सब पण्डितों ने स्वीकार किया।

तब भक्तों ने वेद-वेदांग की शिक्षा के लिए स्वामी जी से एक संस्कृत पाठशाला स्थापित करने का अनुरोध किया। पाठशाला स्थापित हो गयी। उस पाठशाला के बालकों ने स्वामी जी से सुनी हुई युक्तियों के आधार पर गली-गली और कूचे-कूचे में पौराणिक पंडितों की नाक में दम कर दिया।

शिक्षा :—

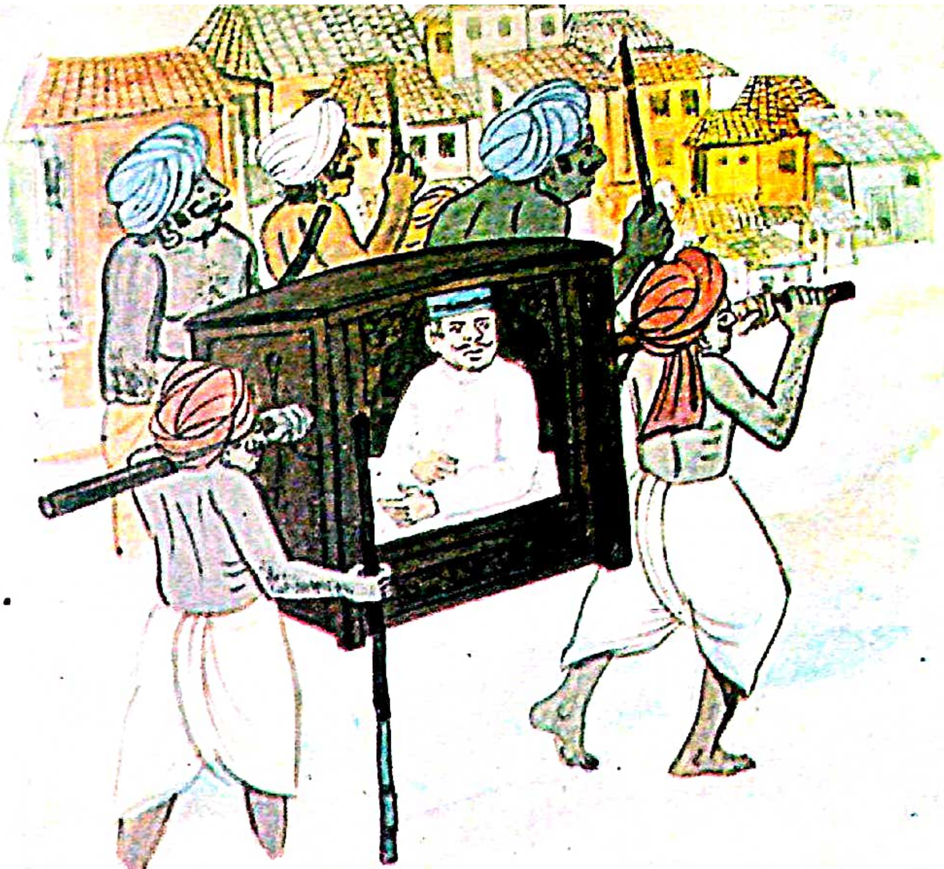
— कहने-सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म्म है उस पर आचरण करना। इसलिए धर्म्माचार में सदा युक्त रहे। —मनु०

— जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किए शास्त्रों का अपमान करता है उस वेद निन्दक को जातिपंक्ति और देश से बाहर कर देना चाहिए। —मनु०

— जो पुरुष अर्थ—सुवर्णादि रत्न और काम – स्त्री सेवनादि में नहीं फँसते उन्हीं को धर्म्म का ज्ञान प्राप्त होता है। जो धर्म्म के ज्ञान की इच्छा करें वे वेद द्वारा धर्म्म का निश्चय करें क्योंकि धर्म्मा धर्म्म का निश्चय बिना वेद के ठीक २ नहीं होता।

— जो सदा, नम्र, सुशील, विद्वान और वेदों की सेवा करता है उसका आयु, विचार, कीर्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं और जो ऐसा नहीं करते उनके आयु आदि चार नहीं बढते। —मनु०





कुछ लोगों ने स्वामी जी से इस वारदात की सूचना पुलिस में देने का अनुरोध किया, तो स्वामी जी ने कहा —"यदि वह अपने क्षात्र धर्म का पालन न कर सका तो हम अपने संन्यास धर्म से विचलित क्यों हों ?"

पर कर्णसिंह अपनी नीचता से बाज नहीं आया। उसने स्वामी जी को मारने के लिए कुछ बदमाशों को पैसे का प्रलोभन देकर भेजी। परन्तु वे योगी की हुंकार सुनकर ही नौ दो ग्यारह हो गए। कर्णसिंह ने कुछ वैरागियों को भी स्वामी जी को मारने के लिए भड़काया पर किसी की भी हिम्मत न पड़ी।

कर्णसिंह की इन हरकतों से स्वामी जी के भक्त-जन इतने उत्तेजित हो गए कि उन्होंने कर्णसिंह के बंगले को घेर लिया और उसे बाहर निकलने को ललकरा। तब कर्णसिंह के श्वसुर ठा० मोहनसिंह ने समझा बुझाकर कर्णसिंह को कर्णवास से भगा दिया। घर जाकर कर्णसिंह पागल हो गया, एक मुकद्दमे में हार गया और अन्त में उसे पक्षाघात हो गया।



स्वामी जी के साथ कुटिया में कैथल सिंह नामक एक भक्त रहता था। उसने इन वारदातों को देखकर स्वामी जी को निवेदन किया "महाराज यहाँ से भाग जाना चाहिए। यह जंगल खतरे से खाली नहीं है।" इसके उत्तर में स्वामी जी ने केवल यह श्लोक दुहराया—

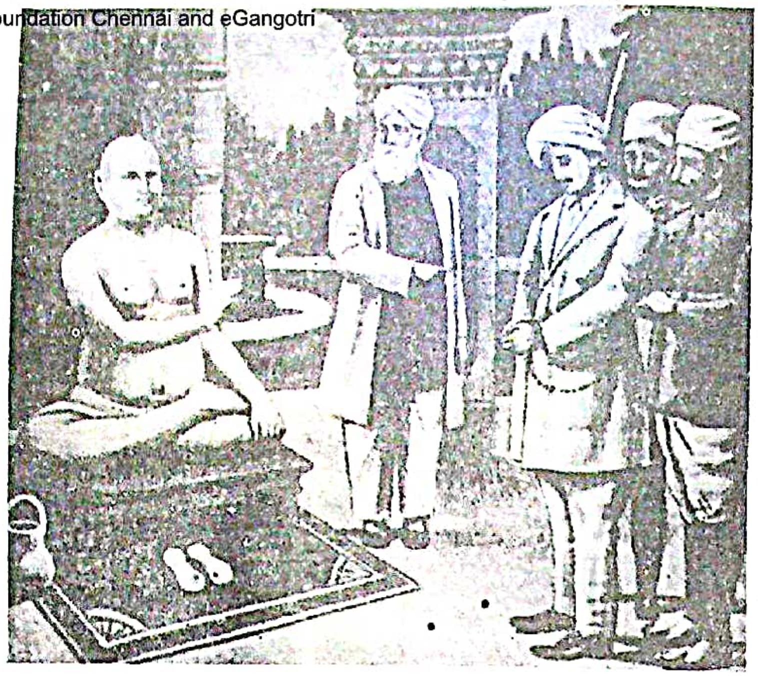
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः

आत्मा अमर है। न इसे शस्त्र काट सकता है न यह अग्नि में भस्म हो सकता है, न जल में बह सकता है और न वायु इसे उड़ा सकता है।

साधु लोग घरों और कोठियों में शरण नहीं लेते परमात्मा उनकी रक्षा करता है।

आत्म-प्रेम :—



एक दिन गंगा तट पर एक साधु कमण्डल आदि प्रक्षालन करके वस्त्र धोने में प्रवृत था। वह घुटा हुआ मायावादी था। दैवयोग से भ्रमण करते हुए स्वामी जी भी वहाँ जा पहुंचे। उसने स्वामी जी को सम्बोधन करके कहा—"इतने त्यागी परमहंस, अवधूत होकर आप खंडन-मंडन रूप प्रवृति के जटिल जाल में क्यों उलझ रहे हो? निर्लेप होकर क्यों नहीं विचरते?" महाराज मुस्कराकर बोले—हम तो सब कुछ करते हुए भी निर्लेप हैं। रही प्रवृति की बात सो शास्त्रीय प्रवृति प्रजा प्रेम से प्रेरित होकर सब ही को करनी उचित है।

साधु जी ने कहा—'प्रजा-प्रेम का नया बखेड़ा क्यों डालते हो? आत्मा से प्रेम करो जिसके लिए श्रुति पुकार रही है। उस समय उसने मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के सम्वाद के वाक्य भी बोले। तब स्वामी जी ने पूछा—'वह प्रेममय आत्मा कहाँ है?' साधु ने कहा—'वह राजा से लेकर रङ्क पर्यन्त और हस्ती से लेकर कीट तक सर्वत्र ऊँच-नीच में परिपूर्ण है।'

तत्पश्चात् स्वामी जी ने गम्भीरता पूर्वक कहा—'नहीं आप उस महान् आत्मा से प्रेम नहीं करते। आपको अपनी भिक्षा की चिन्ता है, अपने वस्त्र उज्जवल करने का ध्यान है। अपने भरण-पोषण का विचार है। क्या आपने कभी उन बन्धुओं का भी चिन्तन किया है जो आपके देश में लाखों की संख्या में भूख की चिता पर पड़े हुए रात-दिन बारहों महीने भीतर ही भीतर जल कर राख हो रहे हैं। हज़ारों लोग ऐसे हैं जिन्हें पेट भर अन्न नहीं मिलता। उनके तन पर सड़े-गले, मैले-कुचैले चिथड़े लिपट रहे हैं। ऐसे कितने ही दीन-दुखिया भारतवासी हैं जिनकी सार-संभार कोई भूले-भटके भी नहीं लेता। बहुतेरे कुसमय में राजमार्गों में पड़े-पड़े पांव पटककर मर जाते हैं परन्तु उनकी बात तक पूछने वाला कोई नहीं मिलता। महात्मन्, यदि आत्मा से और विराट आत्मा से प्रेम करना है तो अपने अंगों की तरह सबको अपनाना होगा। अपनी भूख मिटाने की तरह उनकी भी चिन्ता करनी होगी। सच्चा परमात्म प्रेमी किसी से घृणा नहीं करता। वह ऊँच-नीच की भावना को त्याग देता है। उतने ही पुरुषार्थ से दूसरों के दुःख मिटाता है, कष्ट-क्लेश काटता है जितने से वह अपने करता है। ऐसे ज्ञानी जन ही वास्तव में आत्म-प्रेमी कहलाने के अधिकारी हैं।" यह सुनकर वह साधु स्वामी जी के चरणों में गिर पड़ा।

कर्णवास से स्वामी जी अनूपशहर पहुंचे और वहां चार मास तक रहे। उस समय कौपीनधारी ब्रह्मचारी दयानन्द की भव्यमूर्ति को जिन्होंने भी देखा, वे उसे कभी भूल नहीं सकते। लम्बा कद, सुगठित सुडौल शरीर, विशाल वक्षस्थल, सुन्दर गौरवर्ण, प्रभावशाली चेहरा, शेर की आंख को भी झपका देने वाली आंखें, उन्नत और विशाल मस्तक। प्रतिदिन उपदेश होता, तो बड़े-बड़े पण्डित अपने बुद्धिबल की परीक्षा करने आते, परन्तु सब मुंह की खाकर जाते।

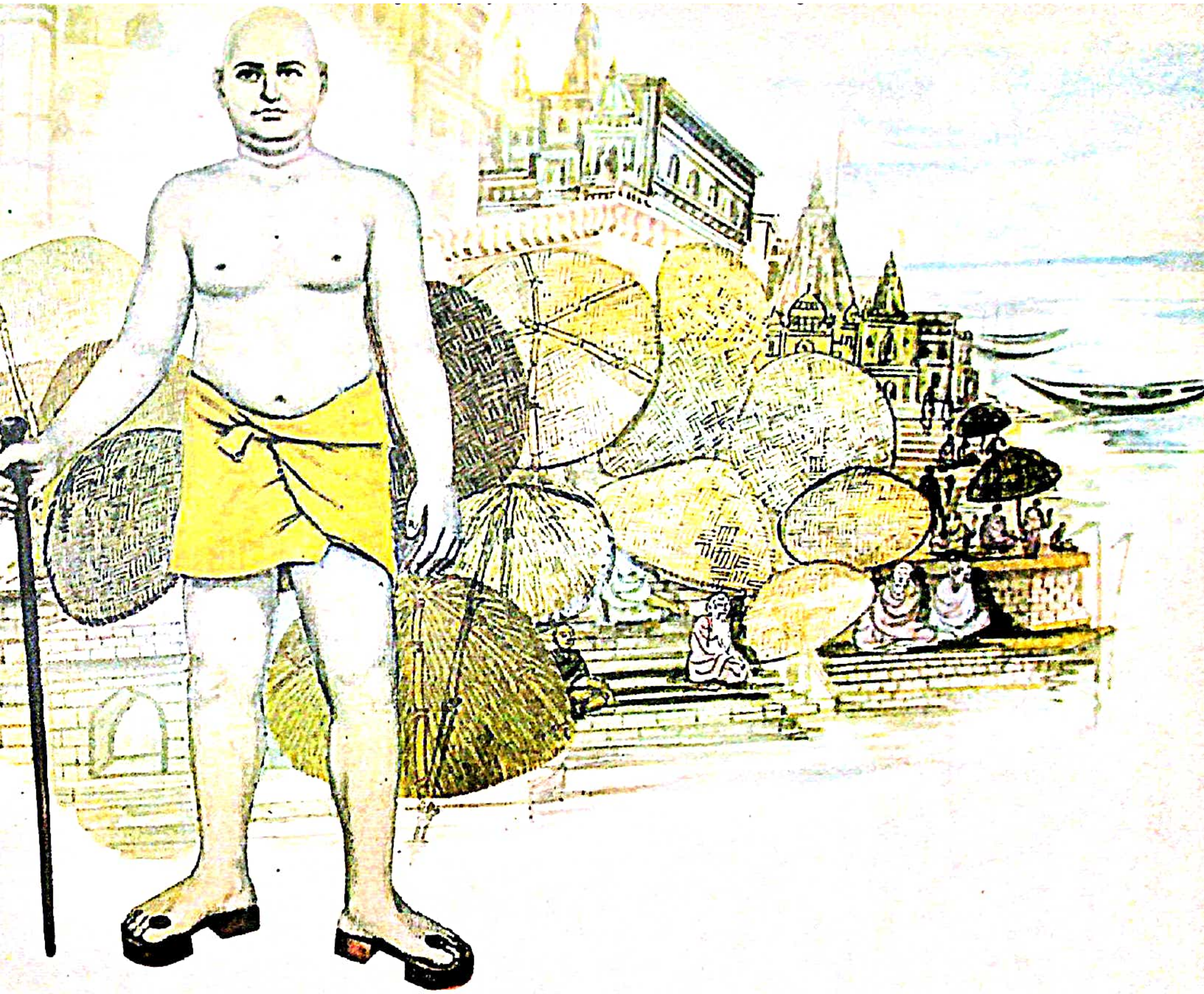
स्वामी जी की वाणी के जादू से मूर्तियों को जल में प्रवाहित करने का सिलसिला जोर पकड़ गया। तब मूर्तिपूजा जिन लोगों की आजीविका का साधन थी, उन्होंने निराशोन्मत्त होकर एक ब्राह्मण के द्वारा स्वामी जी को पान में जहर दिलवा दिया। स्वामी जी को ज्यों ही इसका आभास हुआ कि विष दिया गया है, त्यों ही उन्होंने योग की न्यौली क्रिया के द्वारा सब जहर बाहर निकाल दिया।

यह घटना जब वहां के तहसीलदार सैयद मुहम्मद को पता लगी तो उसने अपराधी को गिरफ्तार कर लिया। यह पूछने के लिए वह स्वामी जी के पास आया कि उस दुष्ट को क्या दण्ड दिया जाए। उसने सोचा था कि स्वामी जी इस बात से प्रसन्न होंगे, पर स्वामी जी ने मुंह फेर लिया और तहसीलदार से बात नहीं की। वह स्वामी जी का भक्त था। उसने स्वामी जी से इस नाराजगी का कारण पूछा। तब स्वामी जी ने जो उत्तर दिया वह इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों से लिखने के योग्य है। वह उत्तर क्या है, स्वामी जी के जीवन-दर्शन को समझने की कुंजी है। स्वामी जी ने तहसीलदार से कहा—

"मैं संसार को कैद कराने नहीं आया, वरन् कैद से छुड़ाने आया हूं। यदि कोई दुष्ट अपनी दुष्टता न छोड़े, तो श्रेष्ठ अपनी श्रेष्ठता क्यों छोड़े।"

तहसीलदार ने स्वामी जी की आज्ञा से विष देने वाले उस ब्राह्मण को रिहा कर दिया।

कर्णवास के ठा० धर्मसिंह कुछ संस्कृत भी जानते थे। उन्होंने स्वामी जी के पास जाकर संस्कृत में अपना नाम, गोत्र आदि उच्चारण करके उन्हें नमस्कार किया प्रत्युत्तर में आशीर्वाद देकर स्वामी जी ने जान लिया कि ये क्षत्रिय है और कुल की रीति के कारण अभी तक यज्ञोपवीत विहीन है। स्वामी जी ने दुःखपूर्वक कहा कि यहां के पंडित, पुरोहितों ने लोगों में भ्रष्टाचार फैलाया हुआ है। भला इससे बढ़कर अनाचार और कुरीति और क्या होगी कि क्षत्रिय के पुत्रों के दाढ़ी-मूंछ मुंह पर निकलने लगी है परन्तु अभी तक यज्ञोपवीत नहीं हुआ। इन्हीं अधर्माचरणों के कारण यह देश दिनों दिन अधोगति को प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार स्वामी जी ने नवयुवकों को उपनयन के लिये बड़ा प्रोत्साहित किया।



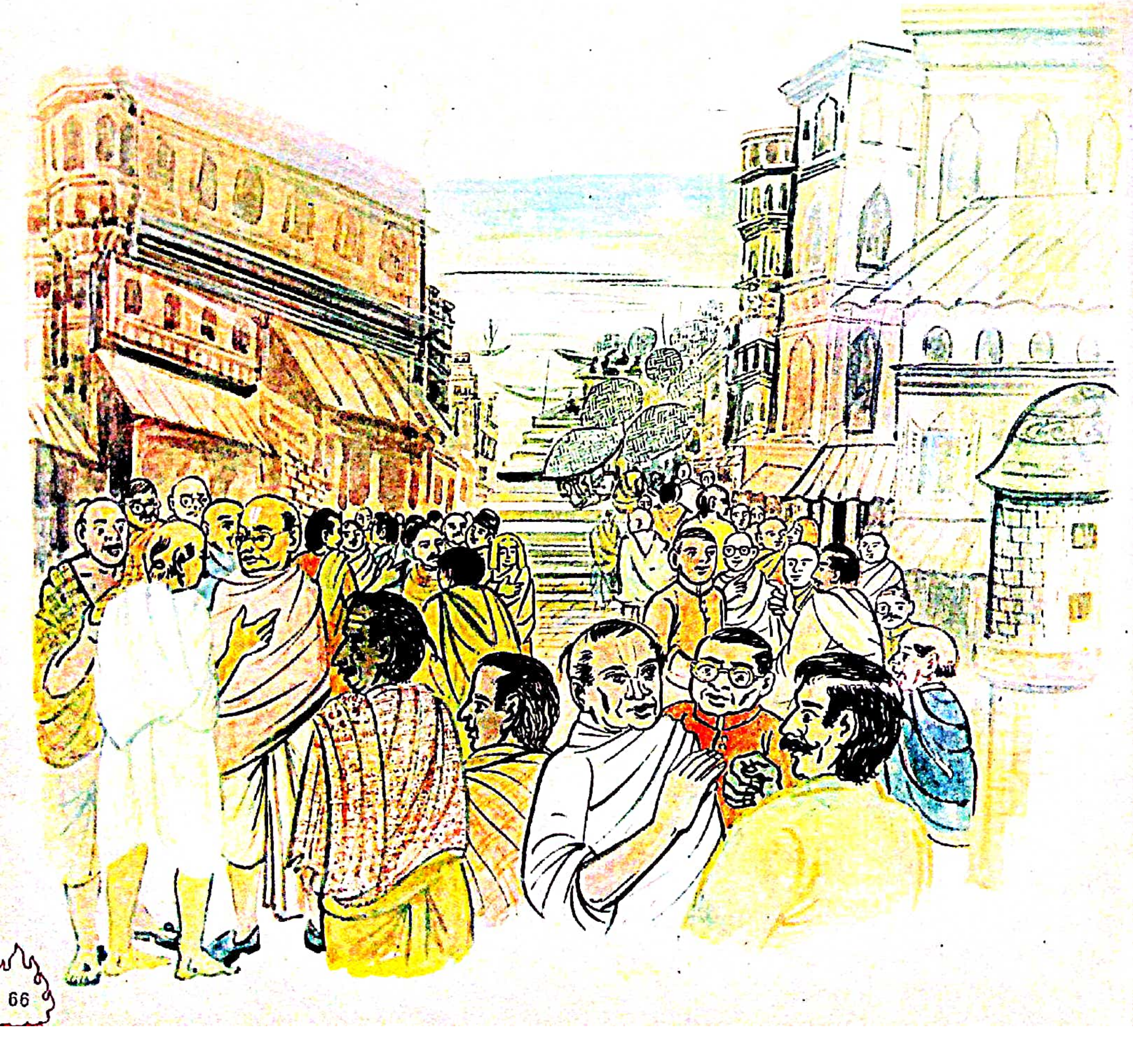
एक सरवरिया धुरन्धर पंडित उन्हीं दिनों में फर्रुखाबाद में आया था। उसको वहां एक पंडित ने कहा कि बहुत लोग दयानन्द को ईसाइयों का एजेन्ट बताते हैं। चलो किसी समय उनके पास चलें और इस बात का पूरा पता लगाएं। दोनों स्वामी जी के पास गए। सरपूपारी पंडित ने स्वामी जी से अनेक श्रौत, स्मार्त और दार्शनिक प्रश्न पूछे, उनका उत्तर पाकर वह परम तृप्त हो गया और बोला भगवन हमने सुना था कि आप कपट वेशी प्रच्छन्न ईसाई हैं परन्तु दर्शनों से पता लगा कि आप एक धर्म्मावतार हैं।

फर्रुखाबाद से दयानन्द कानपुर पहुंचे। वहां गंगा के तट पर आसन जमाया। जैसे मधु की प्यासी मक्खियां फूलों के चारों ओर एकत्रित हो जाती हैं, वैसे ही धर्म की प्यास बुझाने के लिए जनता विश्राम घाट की ओर उमड़ने लगी। इससे पौराणिक मण्डली में फिर खलबली मच गई। सेठ-साहूकारों ने प्रभूत धन व्यय करके पण्डितों को इकट्ठा किया। फर्रुखाबाद की चोट से घायल हलधर ओझा भी अपनी नष्ट हुई कीर्त्ति को पुनः स्थापित करने की इच्छा से दल-बल सहित उपस्थित हो गया। कानपुर के ज्वाइंट मजिस्ट्रेट मि० डबल्यु० थैन की अध्यक्षता में, लगभग पचास हज़ार लोगों की उपस्थिति में, स्वामी जी और पण्डित हलधर ओझा के मध्य शास्त्रार्थ हुआ। पर ओझा की यहां भी दाल नहीं गली। अध्यक्ष ने स्वामीजी की विजय की घोषणा की।

कानपुर में अपनी विजयपताका फहराकर दयानन्द ने काशी की ओर प्रस्थान किया।

भारत में चिरकाल से विद्या के केन्द्र के रूप में काशी (बनारस, वाराणसी) प्रसिद्ध है। व्याकरण, दर्शन और वेद-वेदांग के अध्ययन के लिए भारत के प्रत्येक भाग से हज़ारों विद्यार्थी यहां विद्याध्ययन के लिए आते रहते हैं। सैंकड़ों विद्वान् त्याग-पूर्वक अहर्निश विद्यादान में लगे रहते हैं। स्वामीजी ने यह भली-भांति समझ लिया था कि सारे भारत में प्रसृत विचार-धारा का मूल गढ़ काशी है, इसलिए काशी के पण्डित यदि किसी प्रकार वैदिक धर्म का सत्य स्वरूप हृदयंगम कर लें तो देश-देशान्तर से आए सैंकड़ों विद्यार्थी विद्या पढ़ने के पश्चात् अपने-अपने प्रदेशों में जाकर एक धर्म, एक भाषा, एक आचार-विचार और एक रीति-नीति का प्रचार करके सारे देश को एकता के सूत्र में पिरो सकते हैं।

काशी में दयानन्द २२ अक्टूबर, १८६९ को पहुंचे थे। उनके आगमन का समाचार जंगल की आग की तरह सर्वत्र फैल गया। पण्डित-मण्डली और जन-सामान्य दोनों में अपने-अपने ढंग की प्रतिक्रिया होने लगी। कुछ पण्डित प्रकट रूप से उपहास करते, पर मन के अन्दर अपने पक्ष की निर्बलता को भाँपकर सहम जाते। उत्पाती लोगों को अपना करतब दिखाने का एक और अवसर हाथ आया लगता। सैंकड़ों लोग प्रतिदिन उनकी शास्त्र-चर्चा सुनने आते। कुछ सन्तुष्ट होते, कुछ असन्तुष्ट। दिन भर उनके यहां मेला-सा लगा रहता। मूर्तिपूजा के गढ़ में आकर कोई मूर्तिपूजा के खण्डन का साहस करे, यह अनहोनी घटना थी। दयानन्द के आगमन से काशी नगरी आन्दोलित हो उठी, हरएक की जबान पर दयानन्द की ही चर्चा रहने लगी।





दयानन्द ने काशी-नरेश को कहला भेजा कि यदि सत्यासत्य का निर्णय करना चाहते हो, तो अपने पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए तैयार करो। पण्डितों ने कहा कि दयानन्द तो वेद की दुहाई देता है और वेद के सिवाय किसी और ग्रन्थ का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करता, हमें १५ दिन की मोहलत दीजिए ताकि हम वेदों में से प्रमाण खोज सकें। मोहलत दे दी गयी। पण्डित-मण्डली शास्त्रार्थ की तैयारी करने लगी। कोई-कोई पण्डित अपने शिष्यों को भेज कर दयानन्द के पाण्डित्य की थाह लेने का प्रयत्न करने लगे। जब शिष्यों से पता लगा कि दयानन्द अगाध विद्या का धनी है, तो पण्डित लोग और जोर शोर से शास्त्रार्थ के दंगल की तैयारी में जुट गये।

१५ दिन बीत गये। १६ नवम्बर, १८६९ का दिन था। आनन्द बाग में, जहां स्वामी ज़ी ठहरे थे, शास्त्रार्थ का आयोजन हुआ। दालान की खिड़की में स्वामीजी के लिए और सामने काशी के पण्डितों के लिए आसन लगाया गया। तीसरा आसन काशी नरेश के लिए लगा। काशी नरेश की ओर से पण्डितों के लिए शास्त्रार्थ के स्थान पर पहुँचने को पालकी, छत्र, चंवर तथा अन्य तामझाम की व्यवस्था की गई ताकि जनता पर उनकी शान-शौकत और आडम्बर का प्रभाव पड़े।

एक तरफ़ थी अपने सैंकड़ों शिष्यों से और हज़ारों अन्ध अनुयायियों से घिरी पण्डित-मण्डली, और दूसरी तरफ़ था अकेला बालब्रह्मचारी कौपीनधारी दयानन्द, विद्या ही जिसका शस्त्र था, सत्य ही जिसका किला था, और केवल परमात्मा ही जिसका एकमात्र सहायक था। सभामण्डप का प्रबन्ध शहर कोतवाल रघुनाथप्रसाद के हाथ में था।

विरोधियों की अक्षौहिणी सेना ने शास्त्रार्थ के स्थान पर आने के सब रास्ते छेक लिये, सभामण्डप को चारों ओर से घेर लिया लगभग पचास हज़ार विरोधियों ने शास्त्रार्थ से पहले ही सनातन धर्म की जय के नारे लगाने प्रारम्भ कर दिये। सभा में शान्ति बनाये रखने के सब नियमों का वे उल्लंघन करने लगे। कोतवाल ने जब देखा कि स्वामीजी के विरोधियों में शहर के असामाजिक तत्वों की संख्या भी काफी है, तब उसे चिन्ता हुई। परन्तु कौपीनधारी दयानन्द के हाथ में विद्या की तलवार, और सत्य की ढाल थी, उसे भय कैसा !

शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। जैसे बीसियों प्रचण्ड बरसाती नाले किसी बड़ी पहाड़ी चट्टान से टकराते हैं, वैसे ही हरेक पण्डित अपनी बल परीक्षा कर रहा था। परन्तु प्रत्युत्पन्नमति संन्यासी काबू नहीं आता था। प्रश्नरूपी तीरों की अनवरत बौछार हो रही थी, पर तर्क-धनर्धर दयानन्द उन तीरों को बीच में ही काट फेंकता था और साथ ही अपने तीर छोड़ता जाता था। उसके लक्ष्यवेधी धनुष से फेंके हुए अमोघ बाण प्रतिपक्षियों के कवचों में छेद करते जाते थे।

प्रतिपक्षियों में स्वामी विशुद्धानन्द, पण्डित ताराचरण तर्करत्न, बालशास्त्री, राजाराम शास्त्री, वामनाचार्य और माधवाचार्य आदि उस समय के काशी के धुरन्धर विद्वान् सम्मिलित थे। दयानन्द अकेला सबसे लोहा ले रहा था। जो सामने आता, वही चारों खाने चित्त होता दिखाई देता। स्वामीजी बारम्बार यही पूछते कि वेद में मूर्तिपूजा का विधान कहां है। पण्डित-मण्डली इस मुख्य प्रश्न का उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाकर विवाद को अवान्तर विषयों की ओर खींचने का प्रयत्न करती पर दयानन्द की प्रतिभा अवान्तर विषयों में भी उनके छक्के छुड़ा देती।

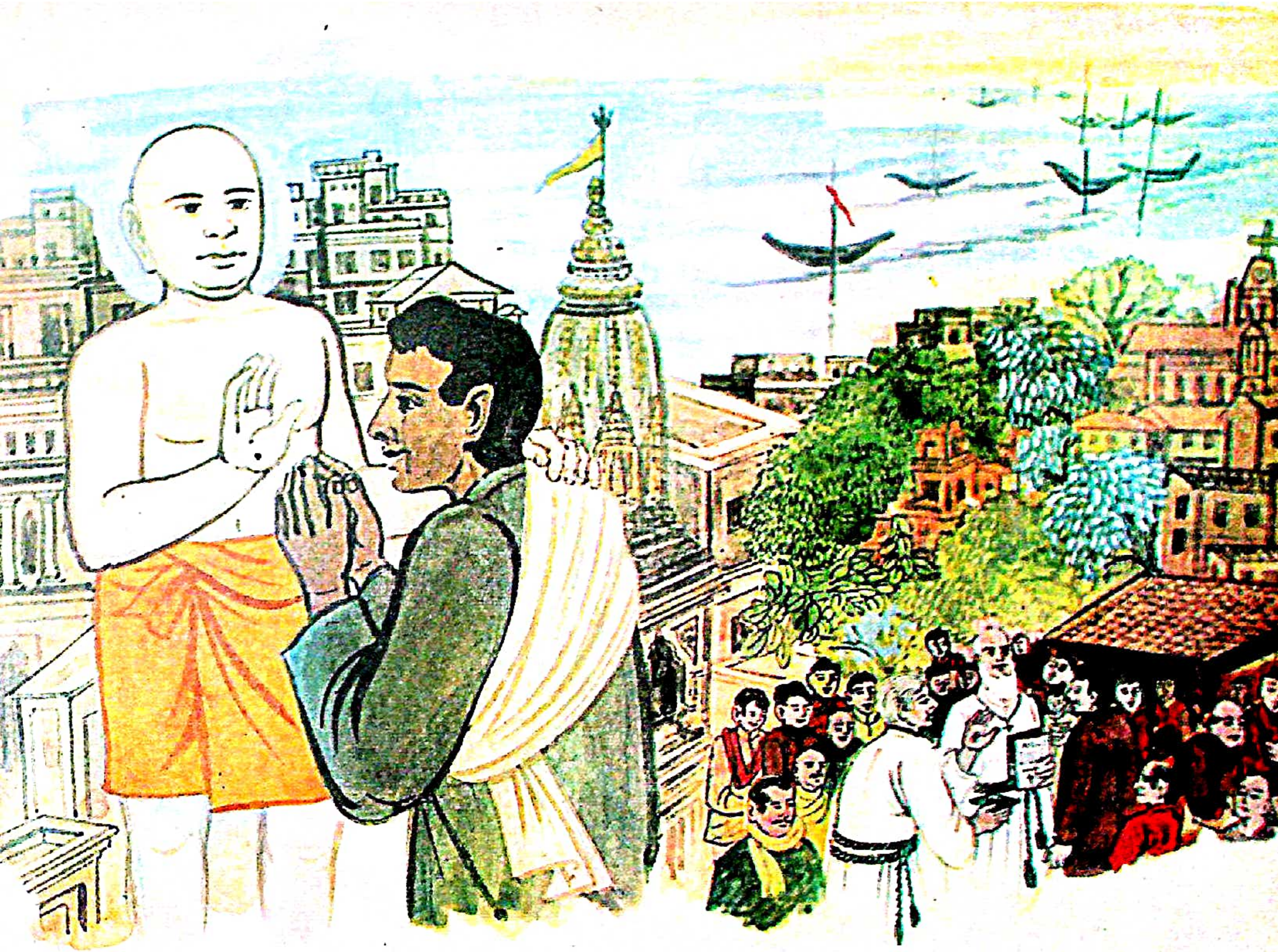
तब पण्डितों ने चालाकी की शरण ली। कुछ पन्ने स्वामीजी के हाथ में देकर कहा कि इनमें मूर्तिपूजा का विधान है, आप पढ़ लीजिए।

स्वामीजी ने पन्ने हाथ में ले लिए। तब तक अंधेरा हो चुका था। लालटेन मंगवाई गई। उसकी रोशनी बड़ी मद्धिम थी। पन्नों की लिखावट भी बड़ी अस्पष्ट थी। स्वामीजी उस स्थल को पढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे कि सारी पण्डित-मण्डली उठ खड़ी हुई। स्वामीजी समझ गये कि धूर्तता हो रही है। उन्होंने विशुद्धानन्द का हाथ पकड़कर कहा—"बैठ जाइए। निर्णय किये बिना ही बीच में उठ जाना आप जैसे विद्वानों को कदापि उचित नहीं।" पर विशुद्धानन्द नहीं बैठे और बोले—"अब रहने दीजिए, जो होना था, वह हो चुका।"

पण्डितों का इशारा पाकर काशी-नरेश भी उठ खड़े हुए और उन्होंने ताली पीट दी। फिर क्या था। जन-समूह तो इसी संकेत की प्रतीक्षा में था। सबने खड़े होकर 'सनातन धर्म की जय' के नारे लगाने प्रारंभ कर दिये। कोतवाल ने काशी-नरेश से कहा—"आपने ताली पीटकर बहुत अनुचित किया है। यह सभा के नियमों के विपरीत है।" नरेश ने कोतवाल को समझाया—"हम-तुम सभी मूर्तिपूजक हैं। इसलिए अपने सामान्य शत्रु को जैसे भी हो, पराजित करना ही चाहिए।" यह कह कर काशीनरेश वहां से चले गए। अब जनता को मनमानी करने की छूट मिल गयी। स्वामीजी पर लकड़ी, कंकड़-पत्थर और गोबर-मिट्टी आदि फेंके जाने लगे। तब कोतवाल ने अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए स्वामीजी को खिड़की के भीतर करके किवाड़ की ओट में कर दिया और सिपाहियों को गुण्डों से निपटने का आदेश दिया। यदि रघुनाथप्रसाद कोतवाल ने उस दिन अपने कर्त्तव्य के पालन में कुछ भी ढील की होती तो स्वामीजी के क्षत-विक्षत हो जाने में सन्देह नहीं था।

प्रतिपक्षियों ने सर्वत्र समाचार भेज दिया कि दयानन्द परास्त हो गया और विरोध में विज्ञापन भी निकाला। परन्तु शास्त्रार्थ की वास्तविकता जनता की आँखों से ओझल न रही। जनता और अधिक उत्सुकता से संन्यासी के उपदेश सुनने के लिए आने लगी। प्रत्यक्षदर्शी निष्पक्ष महानुभावों ने पण्डितों की दम्भपूर्ण चालाकी की पोल खोल दी और दयानन्द को विजयी ठहराया।

देश-देशान्तर में इस शास्त्रार्थ का संवाद हवा की तरह फैल गया और स्वामीजी के पाण्डित्य का कीर्ति-सौरभ भी अपने साथ ले गया। चारों ओर दयानन्द की धाक बैठ गई।



बनारस से स्वामी जी मिरजापुर गए। मिरजापुर में पं० गोपालभट्ट और पं० जयश्री से शास्त्रार्थ हुआ। इन पण्डितों की पराजय से जनता इतनी उत्साहित हुई कि उसने स्वामी जी से एक वैदिक पाठशाला खोलने की प्रार्थना की। स्वामी जी ने पाठशाला खोल दी और उसमें पढ़ाने वाले अध्यापकों की भी व्यवस्था कर दी।

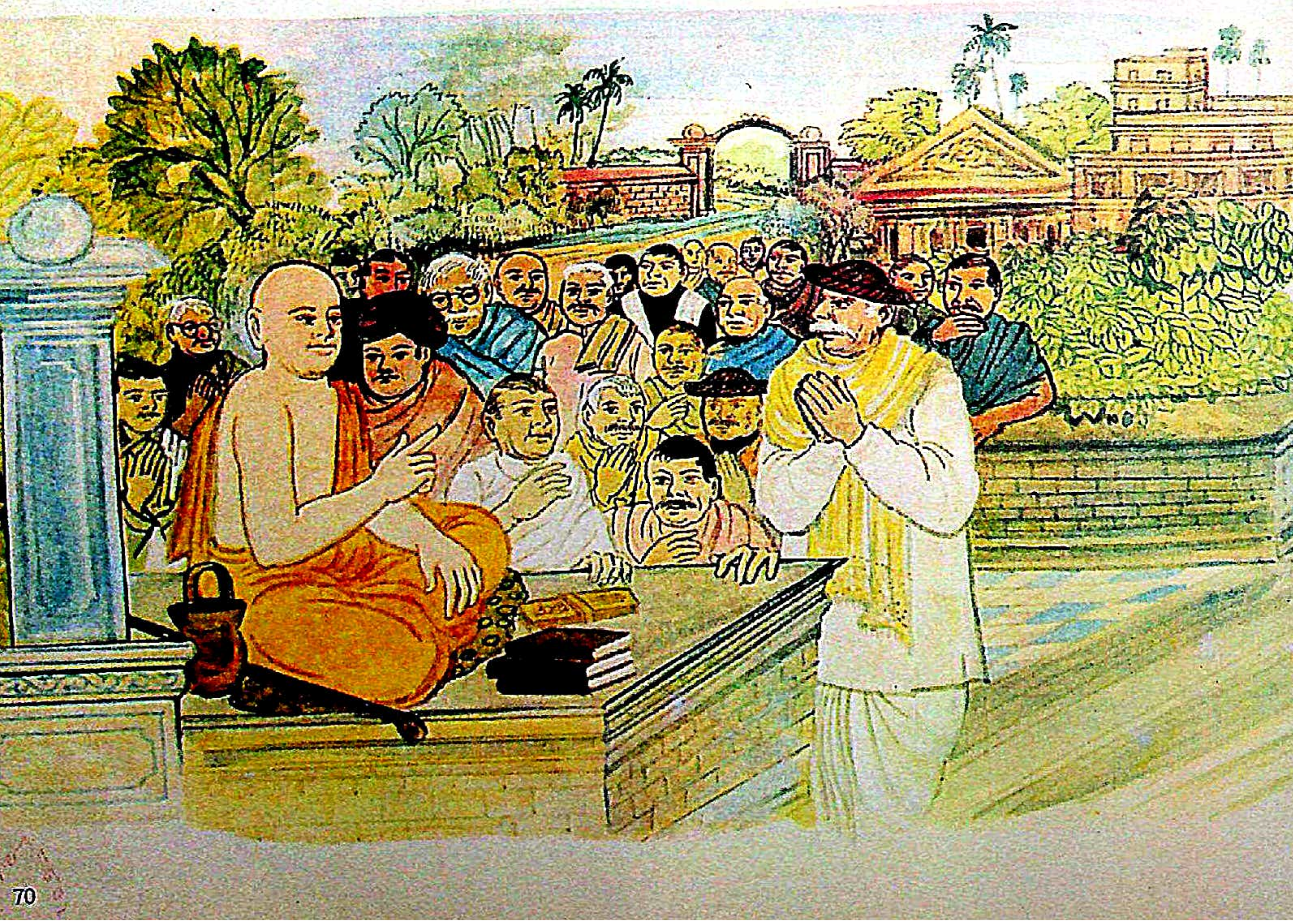
वहां से स्वामी जी सोरों, कासगंज, अनूपशहर, छलेसर, और रामघाट होते पुनः बनारस पहुंचे। इस बार जब काशी-नरेश को स्वामी जी के आगमन का समाचार मिला तब उसने उनसे मिलने की अनुमति मांगी और अपने स्थान पर उनको लाने के लिए यथासमय गाड़ी भेज दी। स्वामी जी जब पहुंचे तब नरेश ने खड़े होकर उनका स्वागत किया, श्रद्धाभक्ति-पूर्वक नमस्कार किया, अन्दर ले जाकर स्वर्ण-सिंहासन पर बैठाया, गले में पुष्पमाला पहनाई और हाथ जोड़ कर स्वामी जी से निवेदन किया : "भगवन्! चिरकाल से मूर्तिपूजा में हमारी श्रद्धा है, इसी कारण शास्त्रार्थ के समय आपकी अवज्ञा हो गई थी। आप संन्यासी हैं, क्षमा कर देंगे।" स्वामी जी ने कहा कि "हमारे मन में उसका लेशमात्र भी मलाल नहीं है।" काशी-नरेश ने उचित भेंट और आदर-सत्कार के साथ स्वामी जी को बिदा किया।

स्वामी जी बनारस से मुगलसराय आए तो वहां कुछेक बंगाली रेल कर्मचारियों ने उनसे कलकत्ता चलने का आग्रह किया।

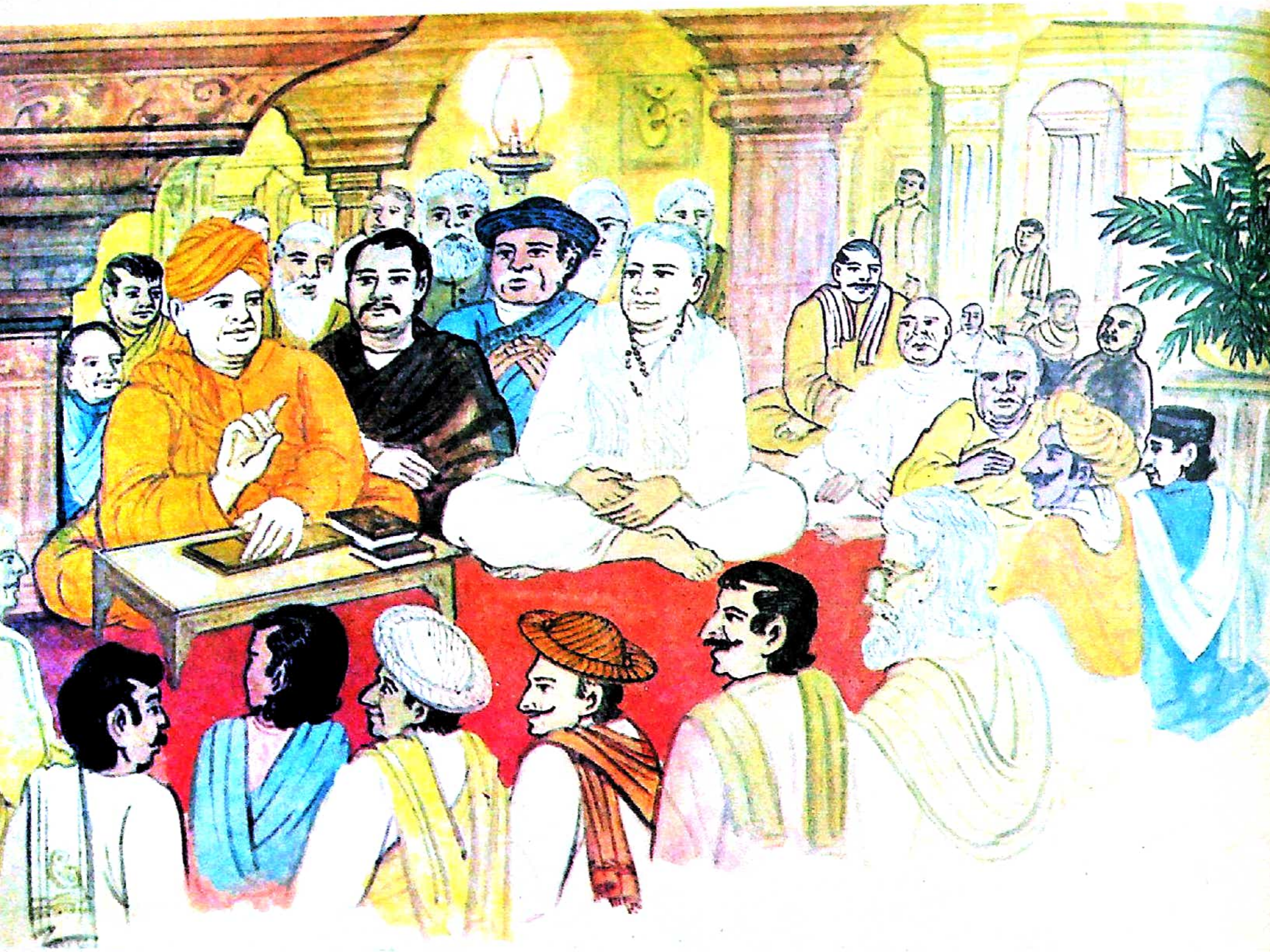
स्वामी जी डुमरांव, आरा, पटना मुंगेर और भागलपुर होते हुए १६ दिसम्बर १८७२, को कलकत्ता पहुंचे। स्वामी जी को कलकत्ता लाने के लिए बैरिस्टर चन्द्रशेखर ने विशेष प्रयत्न किया था। स्वामी जी को पहले विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उद्यान में ठहराने की व्यवस्था थी। परन्तु स्वामी जी को कलकत्ता में आमंत्रित करने वाले ब्रह्मसमाजियों में अपने आन्तरिक मतभेद थे, इसलिए अन्ततः स्वामी जी को राजा सौरेन्द्रमोहन के प्रमोद कानन में, जो राजा साहब द्वारा सुरुचिपूर्ण कलाव-स्तुओं के संग्रह के कारण उस समय का प्रसिद्ध उद्यान था, ठहराया गया। इस उद्यान में ही स्वामी जी के उपदेश होने लगे।

स्वामी जी जब कलकत्ता पहुंचे तब केशवचन्द्रसेन बाहर गए हुए थे। केशवचन्द्र सेन कलकत्ता आए तो स्वामी जी के पदार्पण का समाचार मिला। स्वामी जी के पास मिलने के लिए पहुंचे और अपना परिचय दिए बिना देर तक बात करते रहे। वार्ता की समाप्ति पर बाबू केशवचन्द्रसेन ने स्वामी जी से पूछा—"क्या आप कभी केशवचन्द्र सेन से मिले हैं ?" स्वामी जी ने कहा—"हां।" सेन महाशय ने पूछा—"कब ?" स्वामी ने उत्तर दिया—"अभी।" चकित होकर केशव बाबू ने पूछा कि यह आपने कैसे जाना कि मैं ही केशवचन्द्र सेन हूं। स्वामी जी ने कहा—"जैसी बाते आपने की हैं वैसी कोई दूसरा न करता।" इस के बाद केशव बाबू की और स्वामीजी की खूब घनिष्ठता हो गई।

उस समय स्वामी जी की विचारगोष्ठी में जो लोग सम्मिलित होते उनमें केशवचन्द्र सेन के अलावा आदि ब्रह्मसमाज के प्रसिद्ध उपदेशक पण्डित हेमचन्द्र चक्रवर्ती, बैरिस्टर चन्द्रशेखर सेन, राज नारायण वसु, डा० महेन्द्रलाल सरकार, हेमेन्द्रनाथ टैगोर, द्विजेन्द्रनाथ टैगोर और ज्योतीन्द्र मोहन टैगोर आदि लोग थे जो बंगाल के समकालीन प्रबुद्ध और प्रगतिशील समाज का न केवल नेतृत्व करते थे, प्रत्युत उस प्रदेश की प्रतिभा और पाण्डित्य का भी प्रतिनिधित्व करते थे।







बाबू केशवचन्द्रसेन और स्वामी दयानन्द दोनों ही महापुरुष देश-हित की भावना से प्रेरित थे, दोनों ही अद्भुत वक्ता थे, दोनों ही जनता पर बिजली का सा असर पैदा करने की शक्ति रखते थे। इस समानता से दोनों में घनिष्ठता बढ़ती गई।

इसका परिणाम यह हुआ कि केशवचन्द्र सेन ने अपने निवास स्थान पर भी स्वामी जी के व्याख्यान का आयोजन किया। श्री सेन के घर पर हुए प्रवचनों में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों में ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, कलकत्ता के संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल श्री महेश चरण न्यायरत्न और राजनारायण वसु आदि प्रमुख थे।

लोगों को अपनी ओर खींचने की चुम्बकीय शक्ति और असाधारण प्रतिभा के धनी इन दोनों महापुरुषों का परिचय ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ होता गया, त्यों-त्यों दोनों एक दूसरे के विचारों का आदर करने लगे।

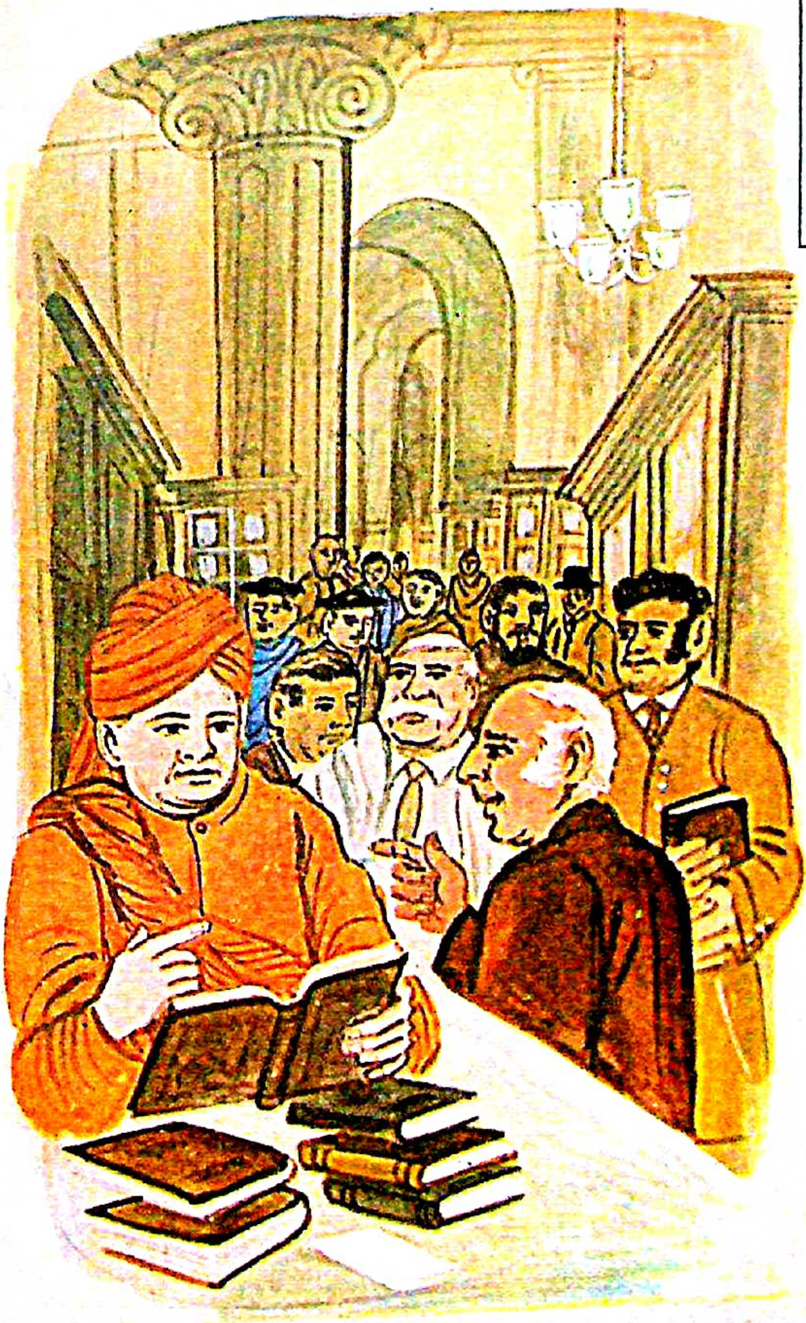
अब तक दयानन्द केवल कौपीन धारण करते थे और भाषण भी केवल संस्कृत में ही देते थे, पर केशवचन्द्रसेन के परामर्श से स्वामी जी ने अन्य वस्त्र पहनना स्वीकार कर लिया और अपने विचारों को अधिकतम जनता तक पहुंचाने के लिए भाषण भी लोकभाषा हिन्दी में देना प्रारम्भ कर दिया।

बाबू केशवचन्द्रसेन और स्वामी दयानन्द के विचारों में किसी हद तक समानता थी। पर असमानता भी कम नहीं थी। एक की दृष्टि पश्चिम की ओर थी और दूसरे की पूर्व की ओर। एक हृदय-प्रधान था, दूसरा बुद्धि-प्रधान। एक यूरोप की वैज्ञानिक उन्नति से चकित था और यूरोप के अनुगमन का हामी था, और दूसरा ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त प्रचलित वेदादि सत्य-शास्त्रों के अनुगमन में ही भारतीय प्रजा का कल्याण समझता था।

दोनों की मनोवृत्तियों का अन्तर बताने के लिए इस घटना का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। एक बार बाबू केशवचन्द्र सेन ने स्वामी जी से कहा था, "शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेज़ी नहीं जानता, नहीं तो यूरोप-यात्रा के समय वह मेरा कितना मन के अनुकूल साथी होता।" इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया था: "शोक है कि ब्रह्मसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे नहीं समझते।"

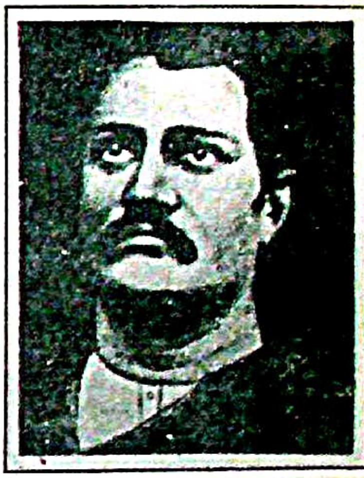
प्राच्यविद्या के जिज्ञासु मनीषियों द्वारा स्थापित रायल एशियाटिक सोसायटी में भी स्वामी जी गए। वहां पूर्व और पश्चिम के अनेक विद्वानों से उनकी भेंट हुई। स्वामी जी ने एशियाटिक सोसायटी से कुछ पुस्तकें भी खरीदीं।

कलकत्ते के धर्म्म तत्त्व नामक समाचार-पत्र ने स्वामी जी महाराज के कलकत्ता पधारने और वहाँ किए गए प्रचार की प्रशंसा में (चैत्र १, सम्वत् १७८४ शाके संवत्) लिखा था—





पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर,

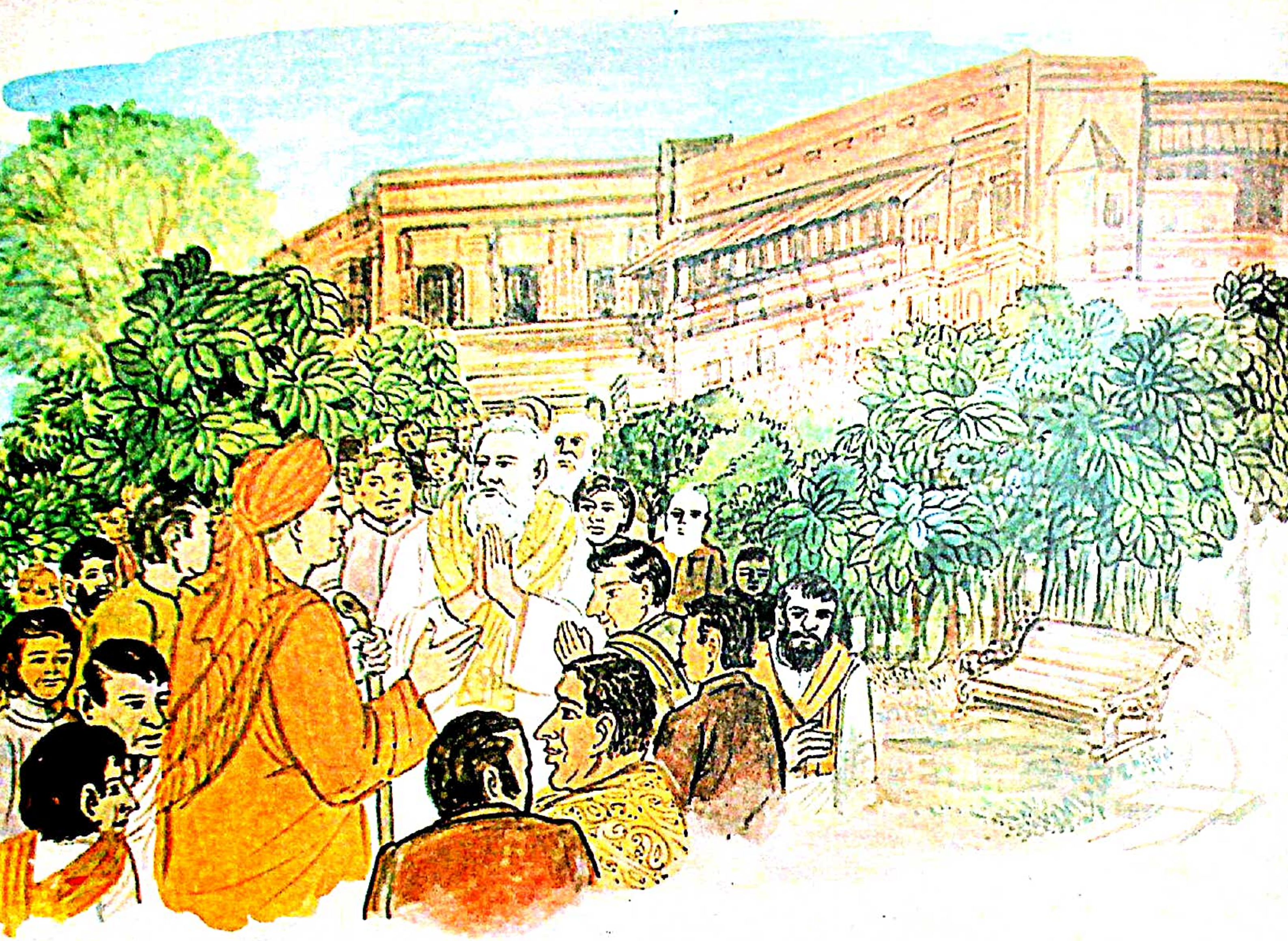


बाबू केशवचन्द्रसेन

"सुप्रसिद्ध स्वामी दयानन्द सरस्वती कलकत्ता में आए हुए हैं। वे आर्यशास्त्रों के प्रकांड पंडित हैं। वे मूर्ति पूजा के विरोधी हैं। अद्वैतवाद का खंडन करते हैं। उनका एक मात्र निराकार परमेश्वर में विश्वास है। उनकी केवल ईश्वरीय ज्ञान, वेद में आस्था है।"

वह विधवा-विवाह का समर्थन और बाल-विवाह का खंडन करते हैं। वह जन्म की जात-पात को नहीं मानते। गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था के पक्षपाती हैं पुनर्जन्म में भी उनकी आस्था है।

वह बड़े विद्वान् सभ्य और चरित्रवान् हैं। संस्कृत उनकी मातृ-भाषा बन गई है उनके साथ वार्तालाप करने पर लोग संतुष्ट होकर लौटते हैं।



महर्षि देवेन्द्रनाथ ने स्वामी जी महाराज से अपने निवासस्थान पर ठहरने की प्रार्थना की जिसे स्वामी जी ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि उनका नियम किसी गृहस्थी के घर पर ठहरने का नहीं है।

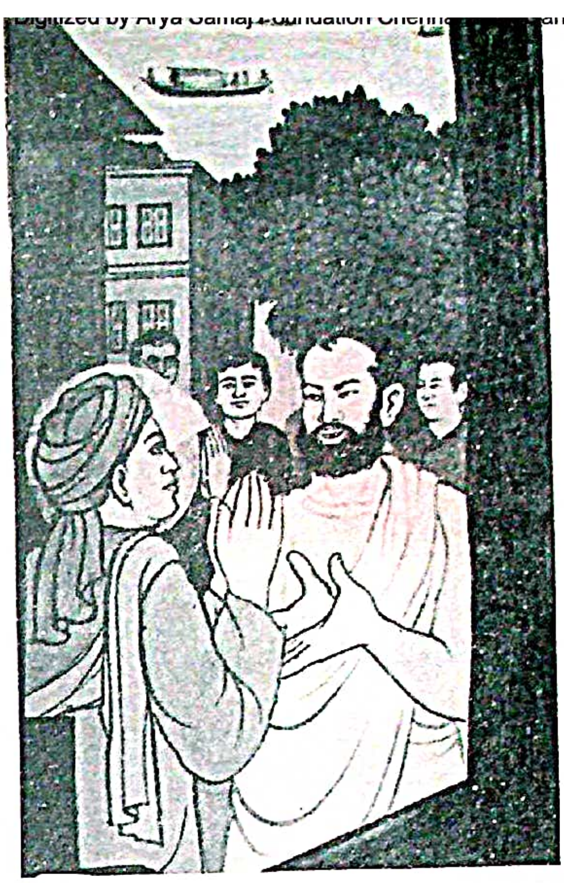
अमृतबाज़ार पत्रिका 'कलकत्ता के सुप्रसिद्ध दैनिक-पत्र' के सम्पादक ने ब्रह्मसमाज में दिए स्वामी जी के भाषण को सुनकर अपने अखबार में लिखा था :—

"स्वामी दयानन्द के कलकत्ता पधारने पर तमाम शहर में हलचल मच गई है। बूढ़े या जवान, स्त्री वा पुरुष सभी में दिलचस्पी सी पैदा हो गई है। आश्चर्य इस बात का है कि संस्कृत में अत्यन्त सरल एवं मधुर भाषण दिया जा सकता है।"

सम्पादक महोदय स्वामी जी के इस कथन से भी बड़े प्रभावित हुए थे, कि अंग्रेजी और फारसी भाषाएँ अमीरों के पुत्रों को ले उड़ी हैं और गरीबों के बच्चे संस्कृत के लिए रह गए हैं।"

जब कलकत्ता ब्रह्मसमाज का उत्सव आया तो श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर स्वामी दयानन्द को जोड़ा-सांको स्थित अपने भवन में लाए जो टैगोर-परिवार का प्रसिद्ध निवास-स्थान था। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वामी जी का सत्कार किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर उस समय बालक ही थे। यही रवीन्द्रनाथ ठाकुर आगे चल कर 'गीतांजलि' पर नोबल पुरस्कार प्राप्त करके और अपनी कवित्व-प्रतिभा से संसार को चकित करके विश्वकवि कहलाए। स्वामी जी ने बालक रवीन्द्र को गायत्री मंत्र का उपदेश दिया।

महर्षि देवेन्द्रनाथ का चित्र देखकर स्वामी जी ने कहा था कि इस व्यक्ति के मुख पर ऋषियों की परम्परा के प्रति अनुराग झलकता है।



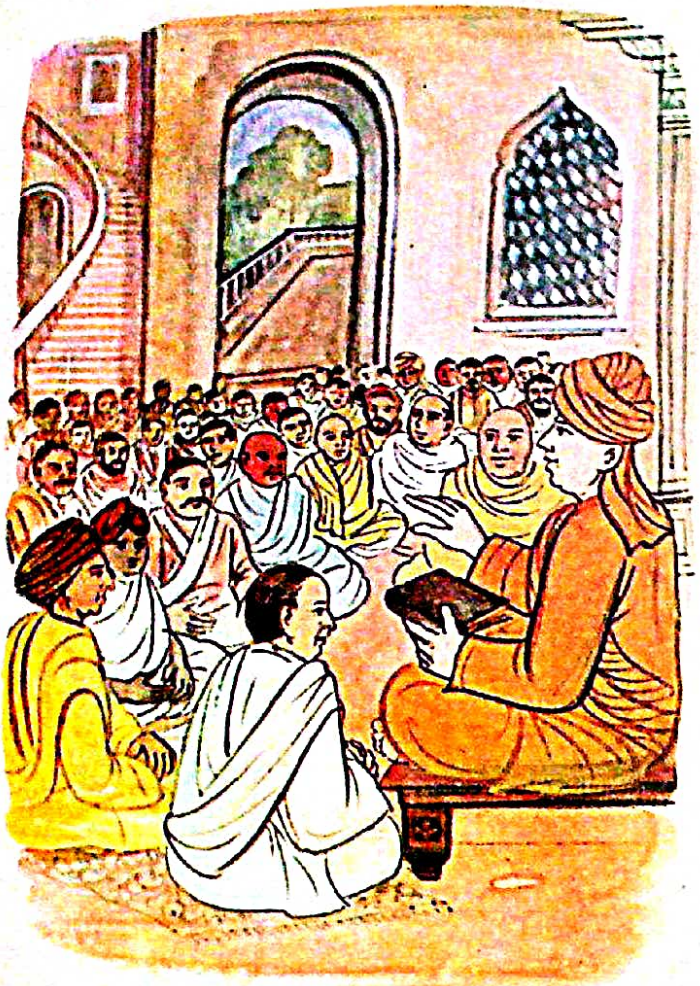
धर्म्म तत्त्व नामक समाचार-पत्र ने पुनः स्वामी जी महाराज के भाषणों का सार देते हुए उनके महान् व्यक्तित्व के प्रति प्रशंसात्मक उद्‌गार प्रकट किए थे :—

"महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से नितान्त अपरिचित हैं तथापि समस्त विषयों पर उनके प्रवचन एवं व्याख्यान इतने विशिष्ट होते हैं कि लोगों की बोलती बन्द हो जाती है। उनकी शिक्षा है कि एक मात्र परमात्मा की पूजा से ही जो विशुद्ध निराकार और महान् चेतन सत्ता है, मुक्ति संभव हो सकती है, पूजा का अर्थ है मन की शुद्धि, इन्द्रिय संयम, प्रभु के गुणों का ध्यान, स्तुति, प्रार्थना और धर्म्माचरण। उनका यह भी कहना है कि भारत का कोई भी निवासी हिन्दू नाम से सम्बोधित नहीं होना चाहिए। मूर्ख ब्राह्मण शूद्र की और उन्नत शूद्र ब्राह्मण की कोटि में रखा जाना चाहिए। स्त्री-पुरुष दोनों को भाषा, व्याकरण धर्म शास्त्र, वेद, विज्ञान और दर्शन की शिक्षा मिलनी चाहिए। स्त्रियों को रसायन शास्त्र, संगीत और चिकित्सा विज्ञान की विशेष शिक्षा मिलनी चाहिए। और इस बात का ज्ञान भी होना चाहिए कि कौनसा खाना स्वास्थ्य बल और मन की शुद्धि के लिए उपयुक्त व अनुपयुक्त है। बड़े २ अहंकारी प्रतिदिन सहज ही में स्वामी दयानन्द से पराजित हो जाते हैं। हिन्दुओं में स्वामी दयानन्द जैसे व्यक्ति का होना आश्चर्यजनक लगता है। वह सायण के वेद भाष्य का खंडन तर्क एवं प्रमाणों से करते हैं। अज्ञानवश, इन्द्र, अग्नि और वरुण आदि का अर्थ देवता लगाया गया है। इन्द्र का वास्तविक अर्थ सर्व शक्तिमान् है। अग्नि का अर्थ उपास्य है। वरुण का अर्थ सर्व श्रेष्ठ है। एक मात्र परमात्मा ही सर्व शक्तिमान एवं सर्व श्रेष्ठ है। दयानन्द केवल भाषण ही नहीं देते हैं, उनमें वीरता, महत्ता, उदारता और उच्च संकल्प भी दृष्टिगोचर होते हैं। उनका अपने पर पूर्ण कन्ट्रोल है। वह अपना समय प्रार्थना, उपासना, स्वाध्याय, व्यायाम योग और धार्मिक प्रवचनों में व्यतीत करते हैं। उनका वेदों एवं पुनर्जन्म में अटूट विश्वास है, परमात्मा उनकी इच्छा को पूर्ण करे। उनके माध्यम से हिन्दू जाति का पुनरुद्धार होगा।"

बंगाल के इस प्रवास में स्वामी जी की भेंट रामकृष्ण परमहंस से भी हुई। ये वही रामकृष्ण परमहंस थे जिनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन आज भी देश-विदेश में अपनी समाज-सेवा, विद्या-प्रचार और अध्यात्म-निष्ठा के लिए विख्यात है। इन्हीं रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में हिन्दुत्व और भारतीय संस्कृति का नाद गुंजाया था और अमरीका में अद्‌भुत लोकप्रियता प्राप्त की थी।

स्वामी विवेकानन्द जैसे अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस के अप्रतिम तेजस्वी शिष्य थे, वैसे ही स्वामी दयानन्द भी अपने गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द के अप्रतिम तेजस्वी शिष्य थे। इन दोनों शिष्यों ने अपने कर्तृत्व से अपने गुरुओं का नाम भी अमर कर दिया।

दयानन्द से भेंट होने पर रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें अपनी छाती से लगाया और बाद में यह उद्‌गार व्यक्त किया : "इस व्यक्ति के हृदय में स्वदेश और स्वधर्म के प्रेम की अग्नि अहर्निश प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित रहती है।"



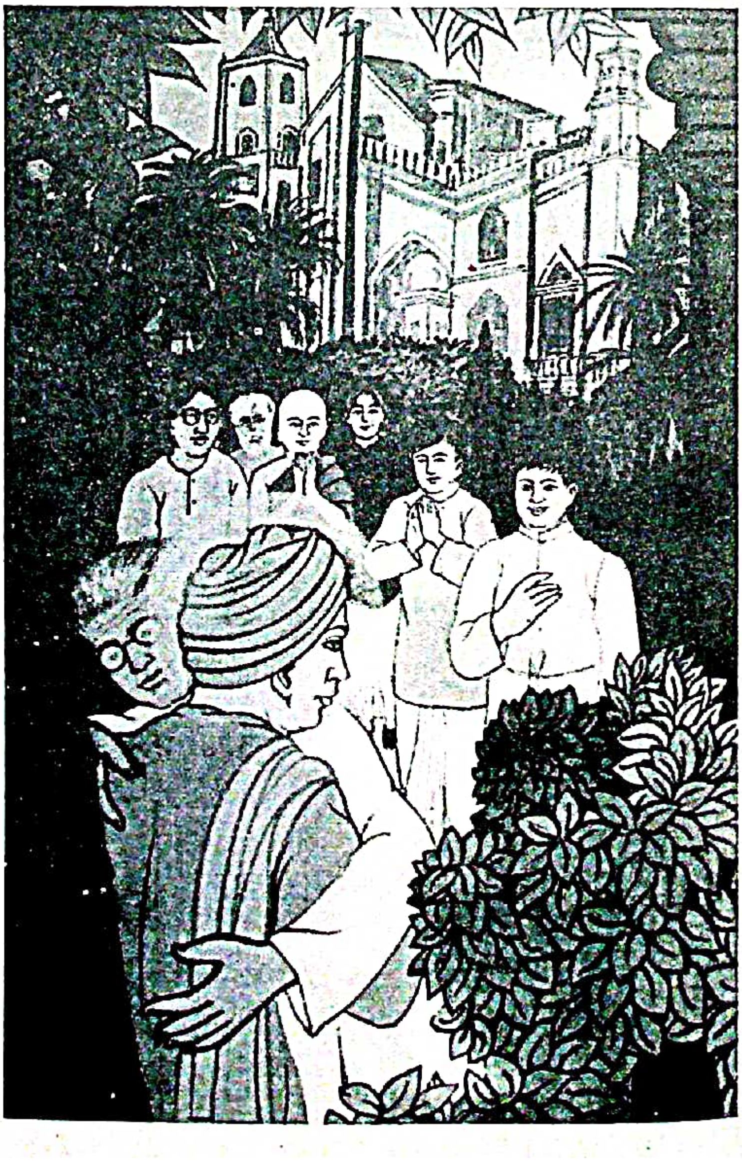
कलकत्ता से स्वामी जी हुगली पहुंचे। उस समय हुगली कालेज के प्रिंसिपल थे पादरी विहारी लाल दे। श्री दे स्वामी जी से पूर्व-परिचित थे। मुगलसराय में उनसे मिल चुके थे। ये महाशय ईसाई होने पर भी भारतीयता के हामी थे। अंग्रेज़ी के धुरंधर विद्वान् थे और अंग्रेज़ प्रोफेसरों की अंग्रेज़ी की गलतियां बताया करते थे। श्री दे ने वर्णभेद के सम्बन्ध में स्वामी जी से वार्तालाप किया और अपने पक्ष की असत्यता स्वीकार की।

हुगली में ही काशी-नरेश के राजपण्डित पं० ताराचरण तर्करत्न से स्वामी जी का शास्त्रार्थ हुआ।

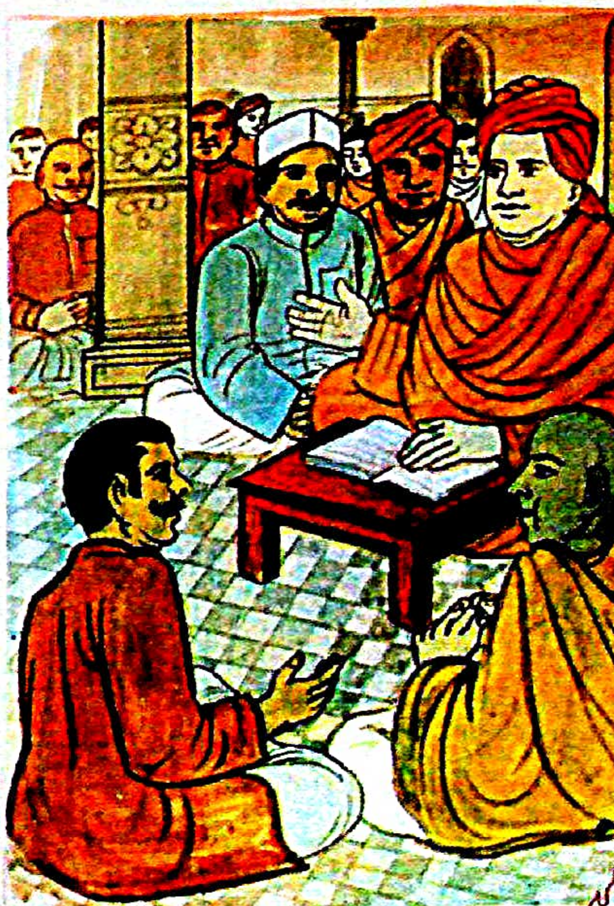
पं० ताराचरण ने शास्त्रार्थ की समाप्ति पर अन्य पण्डितों के सामने ही स्वामी जी से काशी शास्त्रार्थ के समय हुई अशोभन घटना के लिए क्षमा मांगी। वे स्वामी जी से गले मिले और उनसे कहा कि मैं स्वयं भी सत्य शास्त्रों का ही समर्थक हूं और मानता हूँ कि मूर्तिपूजा अवैदिक है, पर यदि सत्य-सत्य कह दूँ तो मेरी जीविका चली जाए और काशीराज मुझे वाहर कर दें।

वृदावन नामक सम्भ्रांत व्यक्ति स्वामी जी को हुगली ले गए थे और उन्हें अपने बगीचे में ठहराया था। वृन्दावन महाशय एक वहुत बड़े भूमिहार थे। उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। स्वामी जी का निवास उनके स्थान में सुनकर हजारों लोग सत्संग में सम्मिलित होने लगे थे। इस बगीचे में सत्संग के मध्य हजारों लोगों की उपस्थिति में महाराज का पं० नारायण जी के साथ भी शास्त्रार्थ हुआ था। यह शास्त्रार्थ सम्वत् १९२९ में हुआ था।

लोग स्वामी जी के सुन्दर मुख कमल को देखते तृप्त न होते थे। उनके विकसित व विशाल नेत्र कृपा-रस से पूर्ण होते थे। उनमें कोई अपूर्व आकर्षण था। कोई मोहिनी शक्ति थी। उनकी नाक उन्नत और अत्यन्त सुन्दर थी. दोनों भौंहें अतीव सुहावनी थीं और उनके ऊपर अर्ध चन्द्राकार माथा वहुत सुन्दर प्रतीत होता था। उनका शरीर अत्यन्त सुगठित और सुडौल था। उनके कन्धे परिपुष्ट थे। उनके दोनों हाथ हाथी की सूंड की तरह लम्वे थे। उनके हाथ की हथेलियाँ लम्वी तपते तवे की तरह दीखती थीं। उनका वक्ष स्थल विस्तृत और पुष्ट था। उनका प्रत्येक अंग प्रत्यंग उनके मनोहर रूप के अनुरूप था।







कलकत्ता में जनता का हृदय जीतने के पश्चात् स्वामी जी ने विहार की ओर मुख किया। पटना में स्वामी जी आठ दिन रहे और वहां उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन भी दिया, पर कोई पण्डित शास्त्रार्थ के लिए उपस्थित नहीं हुआ। पटना से स्वामी जी छपरा पहुंचे।

छपरा में वहां के प्रतिष्ठित व्यक्ति राय शिवगुलाम साह बहादुर ने स्वामी जी का स्वागत किया और अपने विशाल सुसज्जित भवन में ठहरा कर उनका प्रेमपूर्वक आतिथ्य किया।

प० जगन्नाथ छपरा के प्रसिद्ध पण्डित थे। पौराणिकों ने अपनी लाज बचाने के लिए उनको स्वामी जी से शास्त्रार्थ के लिए प्रेरित किया। परन्तु वे कहने लगे कि दयानन्द नास्तिक है, उसका मुख देखने से मुझे पाप लगेगा और मुझे इसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। जब स्वामी जी को यह पता लगा तो उन्होंने इस उलझन से बचने का यह उपाय बताया कि बीच में एक पर्दा डाल दिया जाए जिससे दोनों में से कोई एक दूसरे का मुख न देख सके।

वहां भी ही किया गया। शास्त्रार्थ हुआ। पर जगन्नाथ के संस्कृत भाषण में व्याकरण की अनेक अशुद्धियां थीं। स्वामी जी ने उन अशुद्धियों की ओर संकेत किया तो जनता को विश्वास हो गया कि पण्डित जगन्नाथ की विद्वत्ता की केवल भभकी ही भभकी है। उसके बाद स्वामी जी ने लगातार चार घण्टे तक धारा-प्रवाह सरल संस्कृत में भाषण दिया जिसे सुन कर पौराणिक पंडित भी कहने लगे कि संस्कृत का विद्वान् हो तो ऐसा हो।

बिहार से स्वामी जी फिर काशी आए और वहां पाठशाला की स्थापना की, जिसका नाम रखा गया--सत्यशास्त्र पाठशाला। पं० शिवकुमार शास्त्री इस पाठशाला के अध्यापक नियुक्त किए गए जिनकी बाद में काशी के दिग्गज पंडितों में गिनती हुई। वे अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ाते थे। धीरे-धीरे इस पाठशाला में अष्टाध्यायी पढ़ने वालों की संख्या २५ और महाभाष्य पढ़ने वालों की संख्या ८ तक पहुंच गई।

स्वामी जी ने काशी में इस बार वेदभाष्य का श्रीगणेश किया।

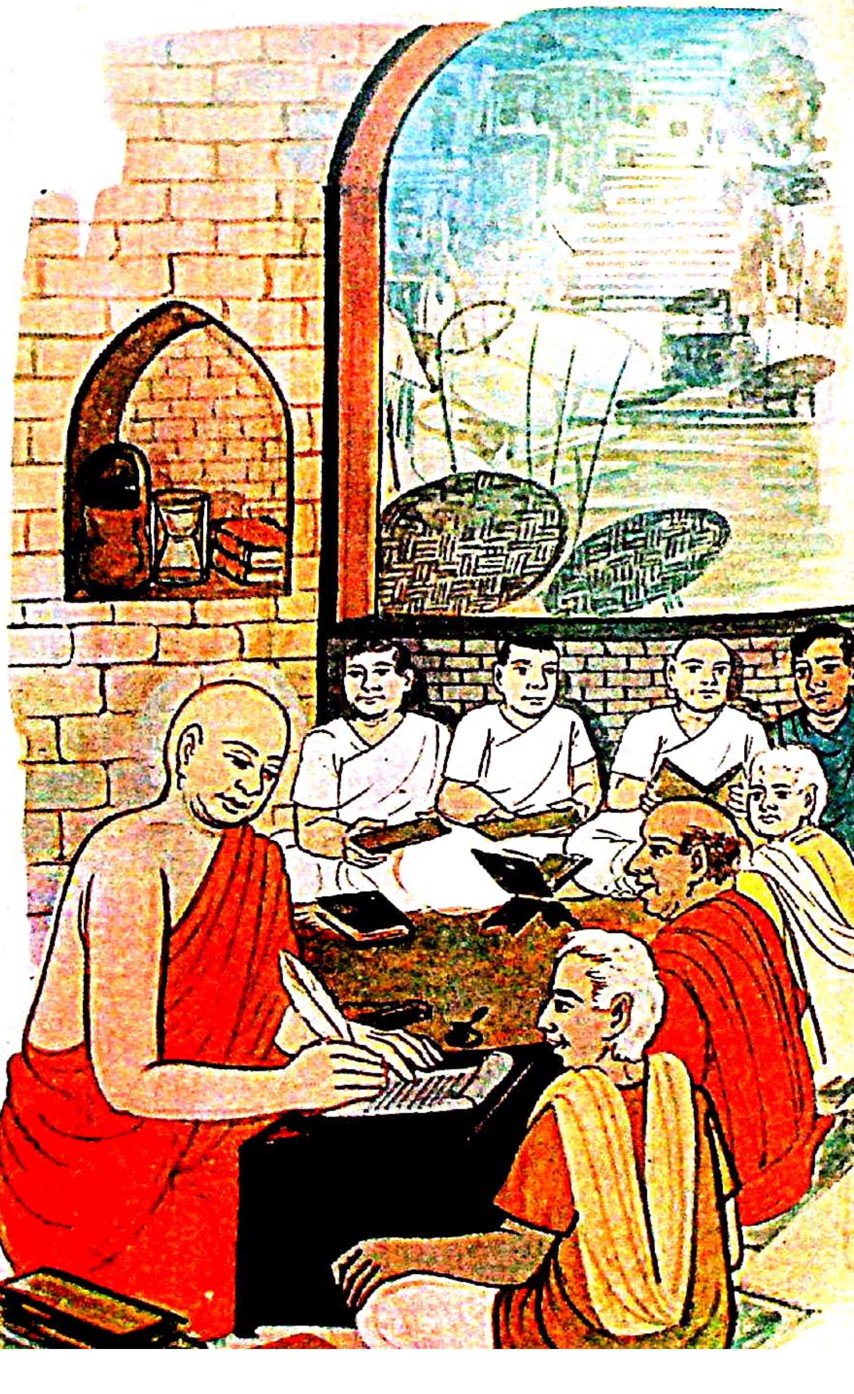
उन दिनों स्वामी जी के निष्ठावान भक्त राजा जय कृष्ण दास जी काशी में डिपुटी कलक्टर थे। उन्होंने स्वामी जी को प्रार्थना की कि वे अपने उपदेशों को पुस्तक रूप में छपवा दें जिससे जन-साधारण पढ़कर उससे लाभ उठायें। स्वामी जी महाराज को यह सुझाव पसन्द आया और जून १८७४ में उन उपदेशों को बोलकर लिखवा दिया और यह ग्रन्थ अगले वर्ष सत्यार्थ प्रकाश के रूप में जनता के समक्ष आया।

यह बात उल्लेखनीय है कि १८७५ में प्रकाशित सत्यार्थ प्रकाश में नमक कर का खंडन किया गया था और इस प्रकार लगभग ५५ वर्ष पूर्व महात्मा गांधी के पग की कल्पना कर ली गयी थी जिन्होंने १९३० में नमक कर के विरोध में सत्याग्रह किया था।

उसी समय स्वामी जी महाराज ने काशी में सर सय्यद अहमद खां के बंगले में एक व्याख्यान भी दिया था। सर सय्यद उन दिनों काशी में सब जज थे और स्वामी जी महाराज के प्रशंसकों में से थे।

इस बार काशी नरेश श्री ईश्वरी नारायण सिंह जीं ने स्वामी जी को अपने राज निवास में आने का निमंत्रण दिया। स्वामी जी ने काशी नरेश पर यह दर्शाने के लिये कि काशी शास्त्रार्थ की घटना से उनके हृदय में महाराज के प्रति कोई दुर्भाव नहीं है, निमंत्रण को स्वीकर कर लिया। स्वामी जी नरेश की भेजी हुई गाड़ी में राज निवास पहुंचे। काशी नरेश ने उनका सम्मान किया और शास्त्रार्थ के समय उनसे जो अवज्ञा हुई थी उसके लिये क्षमा मांगी। स्वामी जी ने गम्भीर भाव में कहा "हमारे मन में इन बातों का लेश मात्र भी संस्कार नहीं है।"

काशी नरेश ने पुष्कल धन राशि और भोज्य पदार्थ स्वामी जी को भेंट किए और बड़े आदर के साथ गाड़ी में बिठाकर उन्हें विदा किया।





स्वामी जी के मस्तिष्क में संस्कृत एवं वेदों के पठन-पाठन की एक योजना थी जिसका मूल रूप इस प्रकार था :—

१—विद्यार्थियों को संध्या सिखाकर पाठशाला में प्रविष्ट किया जाय और इसी से उनकी बुद्धि की भी परीक्षा कर ली जाय।

२—अष्ठाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति और वेद पढ़ाये जायं।

३—यदि विद्यार्थी सूर्योदय से पूर्व उठकर संध्या न कर ले तो उसे उस दिन सांयकाल की संध्या कर लेने से पूर्व भोजन न दिया जाय और उसकी देखरेख भी की जाय कि वह कहीं पास की बस्ती में जाकर भोजन न कर ले।

४—विद्यार्थियों को नगर में जाने की आज्ञा न हो।

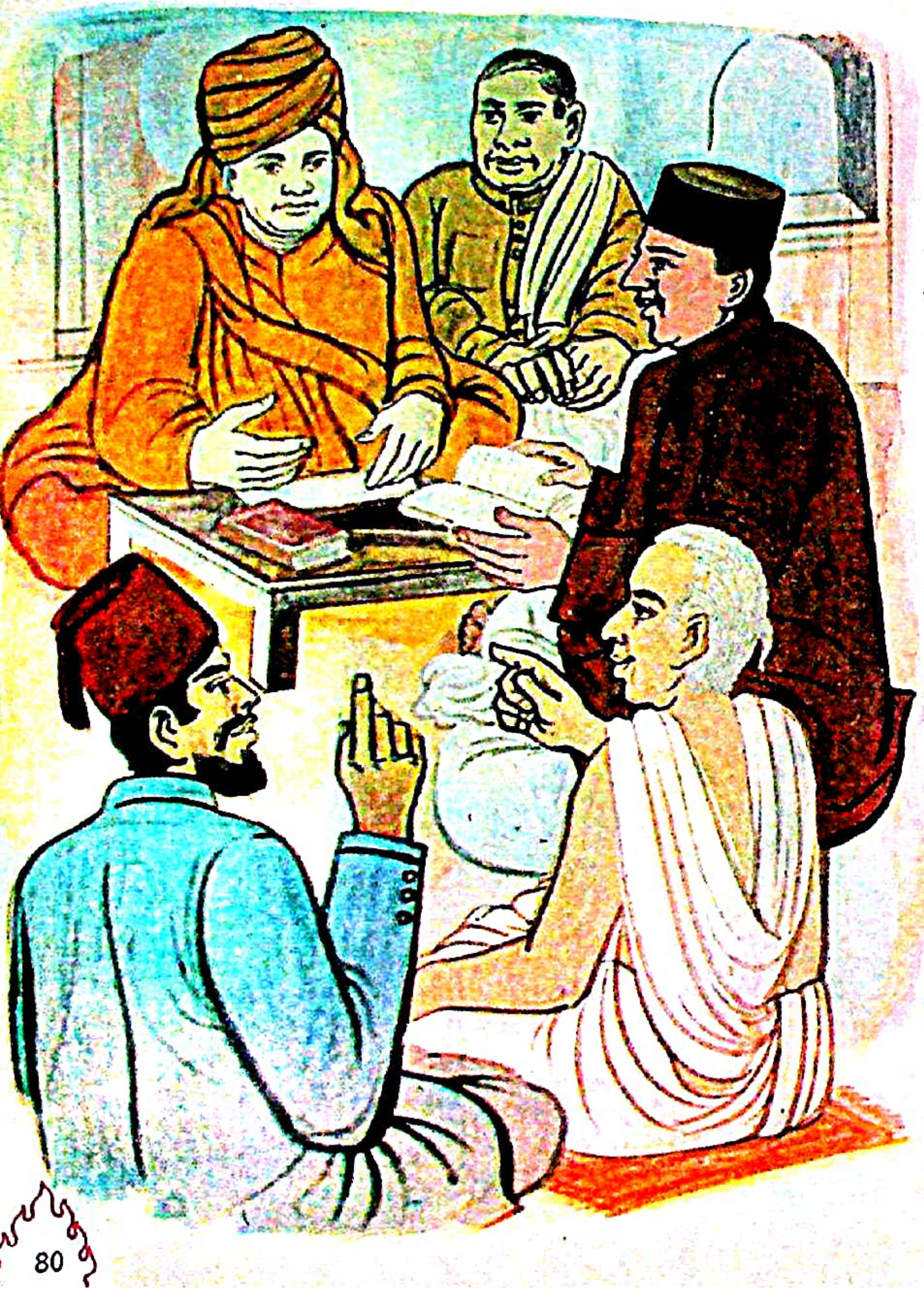
५—अध्ययन में परिश्रम करने वाले विद्यार्थियों के भोजन का विशेष प्रबन्ध कर दिया जाय।

इन दिनों स्वामी जी ने अनेक स्थानों पर संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना पर ध्यान दिया। फर्रुखाबाद में वेद-विद्यालय पहले ही स्थापित हो चुका था। वहाँ बालकों के साथ कुछ बड़ी आयु के सज्जन भी नियमपूर्वक वेदादि सत्य शास्त्रों के अध्ययन के लिए आने लगे।

ये पाठशालाएं सुव्यवस्थित ढंग से चल रही हैं या नहीं, इसकी जांच के लिए स्वामी जी प्रायः उन स्थानों का दौरा भी किया करते थे। फर्रुखाबाद की पाठशाला का निरीक्षण करने के लिए स्वामी जी जब पहुंचे तो ऋषियों के आश्रम जैसी पर्णकुटियों में स्थापित इस पाठशाला की गतिविधियों से सन्तुष्ट हुए।

१ जुलाई सन् १८७४ को स्वामी जी प्रयाग पहुंचे। शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन देने पर पण्डित काशीनाथ शास्त्री, म्योर कालेज के संस्कृत प्राध्यापक, एक महाराष्ट्रियन ईसाई नीलकण्ठ घोरे, और मौलवी निजामुद्दीन बी० ए०, स्वामी जी से विचार-विनिमय करने आए।

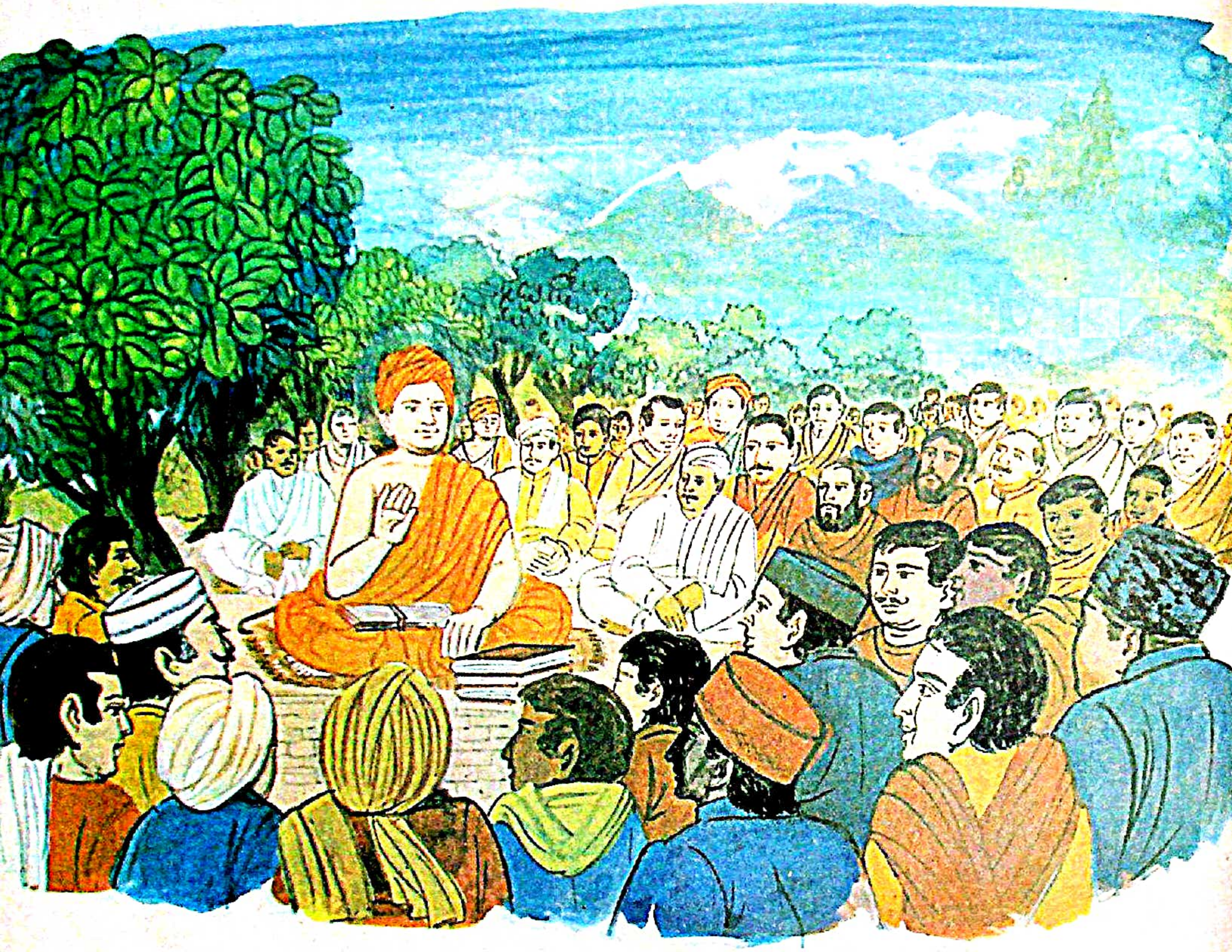
नीलकण्ठ घोरे पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर के भक्त थे। वे यह तो मानते थे कि वेद में मूर्तिपूजा नहीं है, पर साथ ही यह भी मानते थे कि वेद में अग्नि आदि जड़ पदार्थों की पूजा का विधान है। इसके अतिरिक्त मैक्समूलर के कथनानुसार उन की यह भी धारणा थी कि वेद में पुनर्जन्म का समर्थक कोई मंत्र नहीं है। स्वामी जी ने मैक्समूलर के वेदभाष्य की अप्रामाणिकता पर प्रकाश डाला और तर्क तथा वेद के प्रमाणों से श्री नीलकण्ठ का समाधान कर दिया।



स्वामी जी ने बाइबिल के पुराने अहदनामे की एक कहानी की ओर संकेत करके कहा बैबोलिया के लोगों ने स्वर्गारोहण के लिए एक मीनार बनानी शुरू की परन्तु खुदा ने डर कर कि कहीं ये लोग बहिश्त (स्वर्ग) में न पहुंच जायं लोगों की भाषा में गड़बड़ उत्पन्न कर दी। स्वामी जी ने लोगों की अज्ञानता पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि लोग कितने अज्ञानी थे जो यह समझते थे कि आकाश कोई भौतिक स्थान है जिस तक वे पहुंच सकेंगे। यह बात भी हास्यास्पद है कि मीनार के बनने पर खुदा भयभीत हुआ होगा मि० घोरे के पास इस बात का कोई उत्तर न था।

पं० काशीनाथ शास्त्री ने स्वामी जी से पूछा—"आपने अपने प्रचार से देश में इस प्रकार की हलचल क्यों मचाई हुई है?" स्वामी जी ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा कि पंडितों ने देश में मिथ्या विश्वास फैलाए हुए हैं। पत्थर को पूजते-पूजते उनकी बुद्धि पत्थर और वह सत्य का ग्रहण करने में असमर्थ हो गयी है।





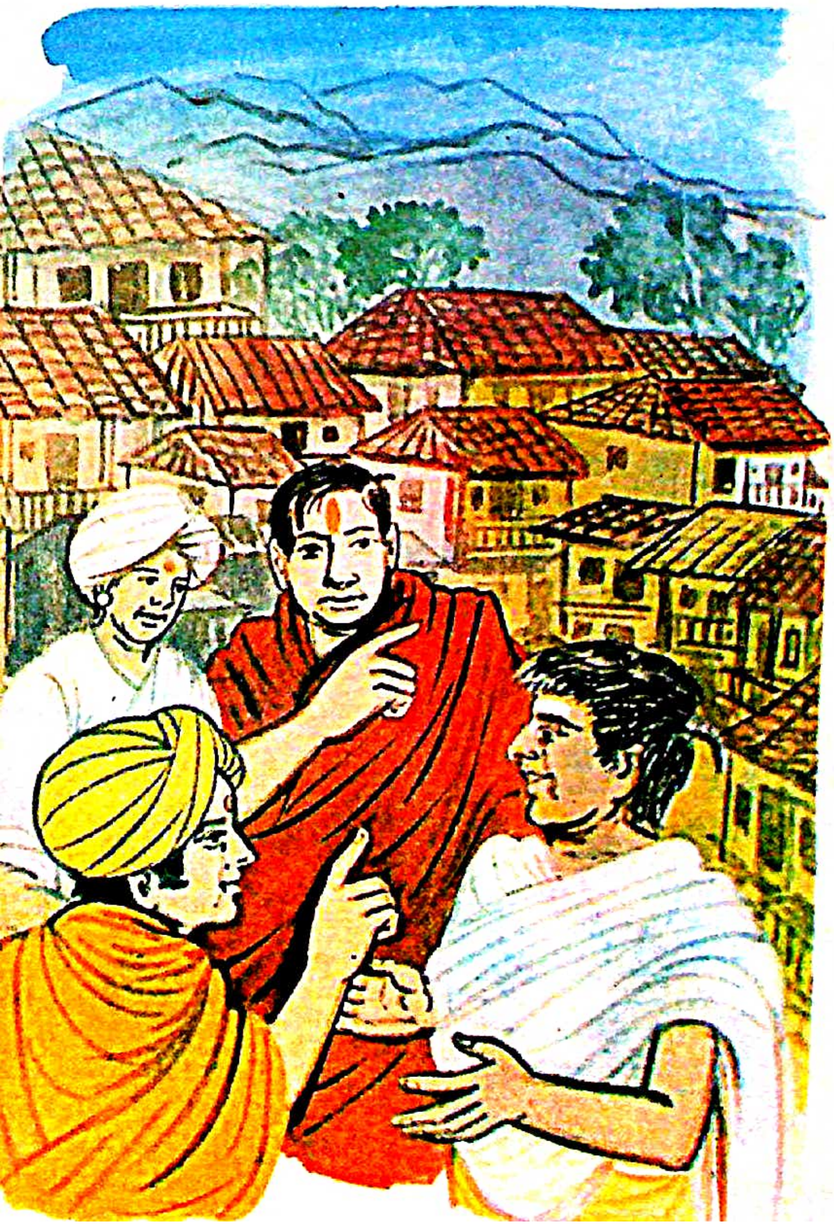
विहार के पश्चात् स्वामी जी ने मध्यप्रदेश की ओर प्रयाण किया। सन् १८७४ ई० के अक्तूबर मास में स्वामी जी जबलपुर पहुंचे। अतिरिक्त सहायक कमिश्नर श्री कृष्णराव ने स्वामी जी को जबलपुर आने के लिए आमंत्रित किया था और उन्होंने ही स्वामी जी का आतिथ्य किया। श्री कृष्णराव ने एक दिन स्वामी जी को अपने घर ले जाकर उनका एक फोटो भी खिचवाया था जो उनके वंश में आज तक सुरक्षित है। (देखिए पृष्ठ संख्या ८४ पर, यह उसी फोटो से तैयार किया गया चित्र है।)

जबलपुर में स्वामी जी राजा गोकुलदास (सेठ गोविन्ददास के पूर्वज) के उद्यान में ठहरे। स्वामी जी के पहुंचते ही जबलपुर के पौराणिक पण्डितों में हलचल मच गई। वे आपस में एक दूसरे से चर्चा करने लगे कि अब क्या किया जाए – इस संन्यासी से कैसे पार पाया जाए।

सब पौराणिकों ने मिल कर शंकर शास्त्री को शास्त्रार्थ के लिए तैयार किया। शंकर शास्त्री पहले तो आनाकानी करता रहा, फिर कहने लगा कि मैं तो मौखिक नहीं, लिखित शास्त्रार्थ करूँगा। उसको आशंका थी कि मौखिक शास्त्रार्थ में जनता के सामने कहीं मेरी पोल न खुल जाए। स्वामी जी को लिखित शास्त्रार्थ में भी कोई आपत्ति नहीं थी।

शास्त्रार्थ की तैयारी होने लगी। शास्त्री जी के समर्थकों ने खूब तूमार बांधा। दलबल सहित शास्त्रार्थ के स्थान पर उपस्थित हो गए और अपना झण्डा भी खड़ा कर दिया। परन्तु ऐन मौके पर शास्त्री जी ने कोई बहाना बना दिया और वे उपस्थित नहीं हुए। शास्त्री जी के समर्थकों को इससे बड़ी निराशा हुई। उनका सब प्रयास व्यर्थ हो गया।

इसके बाद स्वामी जी ने सरदार मल्हार राव इंगलौर के निवासस्थान पर व्याख्यान दिए। इन व्याख्यानों में उन्होंने धार्मिक चर्चा के अलावा अपने जीवन से सम्बन्धित कुछ घटनाएं भी सुनाईं। इन व्याख्यानों में इन्दौर के धनी-मानी व्यक्ति और शहर के शिक्षित लोग अच्छी संख्या में उपस्थित होते रहे।



महर्षि गौरव

(१)

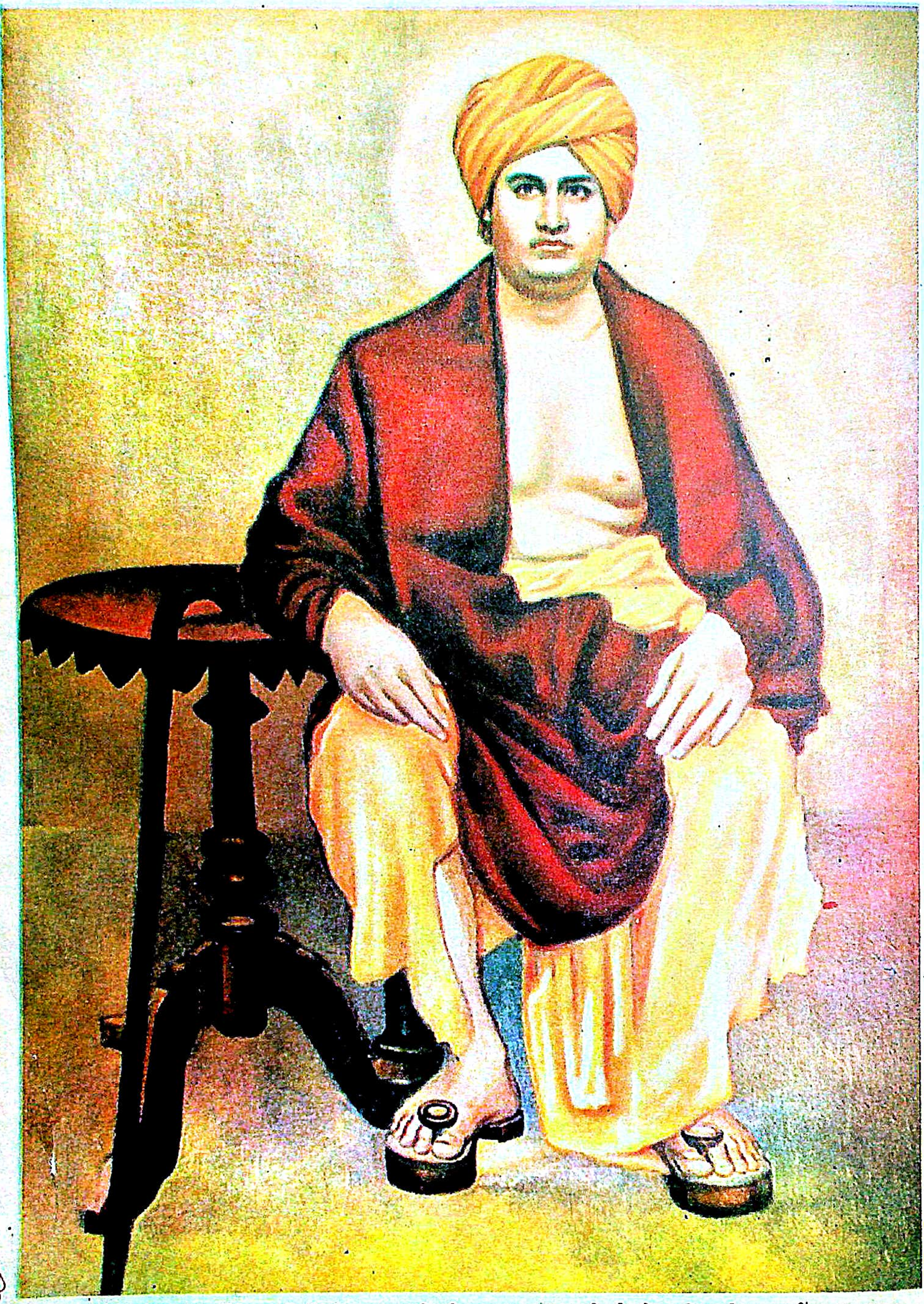
या भव-कानन को मतवाददवानल ने बहु भांति जरायो।
ता पै समीरन हु जड़ताई को, ह्वै के सहायक जोर जनायो।
देखि दशा श्रुति सागर तें, अखिलेश जू लै जल बोधको धायो।
सन्त कियो ये दयानन्द-देव, लहै जग में जप सौख्य सुहायो।

(२)

मोह समुद्र में नाव—समाज की, बूड़ति कोऊन खेवन हारो।
ताहि बचावन को अखिलेश, महर्षि तज्यो सुख-मुक्ति करारो।
जो प्रभु-प्रेम-सरोवर को नित, मीन बन्यो निज जन्म सुधारो।
सो भगवान दयानन्द को, सुचरित्र करै दुःख दूरि हमारो।

(३)

मानव-मंगल के हित वेदनि में रत ह्वै श्रम कीन्यो घनेरो।
वैदिक धर्म-प्रचार हितै, अखिलेश कियो वसुधा पर फेरो।
व्यापक-ब्रह्म-निरंजन में रहि, लीन गिन्यो नहीं सांझ सवेरो।
ऐसे दयानन्द आनन्द-कन्द को वन्दनवार हजार है मेरो।



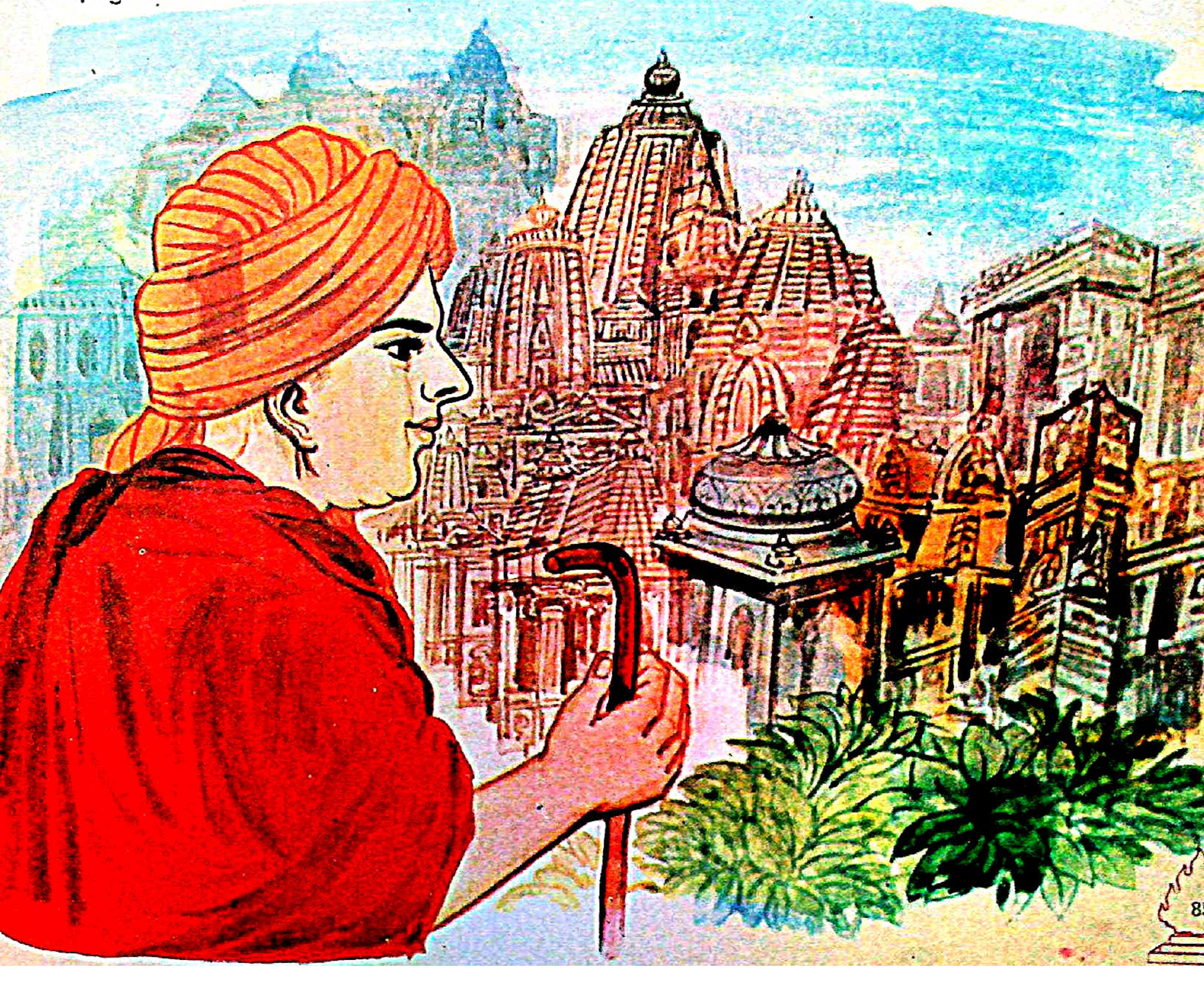
यह चित्र उसी फोटो की अनुकृति है जो जबलपुर में श्री कृष्णराव ने स्वामी जी को अपने घर ले जाकर खिंचवाया था।

जबलपुर के बाद स्वामी जी मध्यप्रदेश के अन्य स्थानों पर प्रचार करते हुए नासिक पहुंचे। नासिक हिन्दुओं का बहुत बड़ा तीर्थ है और वहाँ पण्डे-पुरोहित हज़ारों की संख्या में रहते हैं। नासिक के पास ही पंचवटी नामक वह स्थान है जहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अपने वनवास के समय रहे थे।

नासिक में सब-जज थे राव बहादुर विष्णुमोरेश्वर भिड़े। उन्हीं के निवास-स्थान पर विशिष्ट पण्डितों को आमंत्रित किया गया और शास्त्र-चर्चा की व्यवस्था की गई। इस शास्त्र-चर्चा में बम्बई के उस समय के प्रसिद्ध पत्र 'इन्दु प्रकाश' का प्रतिनिधि भी उपस्थित था। उसने अपने पत्र में स्वामी जी के अगाध पाण्डित्य, अद्भुत स्मरणशक्ति, निर्भीकता, देशप्रेम और समाजसुधार के लिए तीव्र लगन की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

उसने लिखा है:—

स्वामी दयानन्द में इतने सद्गुण हैं कि जिनके कारण वे अकेले ही अपने पैर जमा लेते हैं। स्वामी दयानन्द ने नदी के तट पर उन बहुसंख्यक ब्राह्मण पुरोहितों की कुशिक्षाओं और अज्ञान का जिनके हाथों में सर्व सामान्य जनता के आध्यात्मिक हित का दायित्व है, साहस और स्पष्टवादिता के साथ खंडन किया। उनके व्याख्यानों एवं खंडन-मंडन का नासिक की जनता पर बड़ा सुन्दर प्रभाव पड़ा और जनता ने एक विशेष समारोह में उनका अभिनन्दन करके उन्हें बहुमूल्य उपहार भेंट किए।





यह है बम्बई महानगरी, जहाँ अंग्रेज़ों ने अपने भारत आगमन के उपलक्ष्य में 'गेट वे आफ़ इण्डिया' का निर्माण किया था और जो सचमुच यूरोप-वासियों के लिए आज तक भारत का प्रवेशद्वार बना हुआ है। विभिन्न जातियों, विभिन्न सम्प्रदायों और एक से एक बढ़ कर उद्योगपतियों और धनपतियों की यह नगरी केवल भारत के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, प्रत्युत संसार के अन्य देशवासियों के लिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विदेशी लोगों के निरन्तर आवागमन के कारण इस महानगर का स्वरूप बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है। अपने उद्योग, व्यापार-वाणिज्य और ऊँची-ऊँची गगनचुम्बी इमारतों के लिए यह नगरी प्रसिद्ध है ही। पश्चिमी भारत का सबसे समृद्ध नगर होने के कारण कलाकारों, विद्वानों, मनीषियों और राजनेताओं का भी यह केन्द्रीय स्थान है।

बम्बई-निवासी चिरकाल से स्वामी जी को अपने यहाँ बुलाने के इच्छुक थे और उनको बारंबार निमंत्रित कर रहे थे। स्वामी जी के कुछ भक्तों ने काशी-शास्त्रार्थ में स्वामी जी की विजय से सम्बद्ध विज्ञापन भी पहले से ही नगर में वितरित कर दिए थे। इसलिए यह नगर बड़ी उत्सुकता से स्वामी जी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था।

बम्बई में स्वामी जी को आमन्त्रित करने वाले वे सज्जन थे जो काशी शास्त्रार्थ के समय काशी में विद्यमान थे और जिन पर स्वामी जी की विद्वता और निर्भीकता का शास्त्रार्थ के समय बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। बम्बई में व्याप्त वैष्णव सम्प्रदाय के प्रभाव और उसके बुरे रिवाजों को विध्वंस करना ही स्वामी जी को आमन्त्रित करने का मुख्योद्देश्य था। यह कार्य स्वामी दयानन्द जैसे शक्तिशाली विद्वान एवं सुधारक से ही सफलतापूर्वक हो सकता था। यह वह समय था जबकि सुप्रसिद्ध महाराजलायवेल केस चल चुका था।

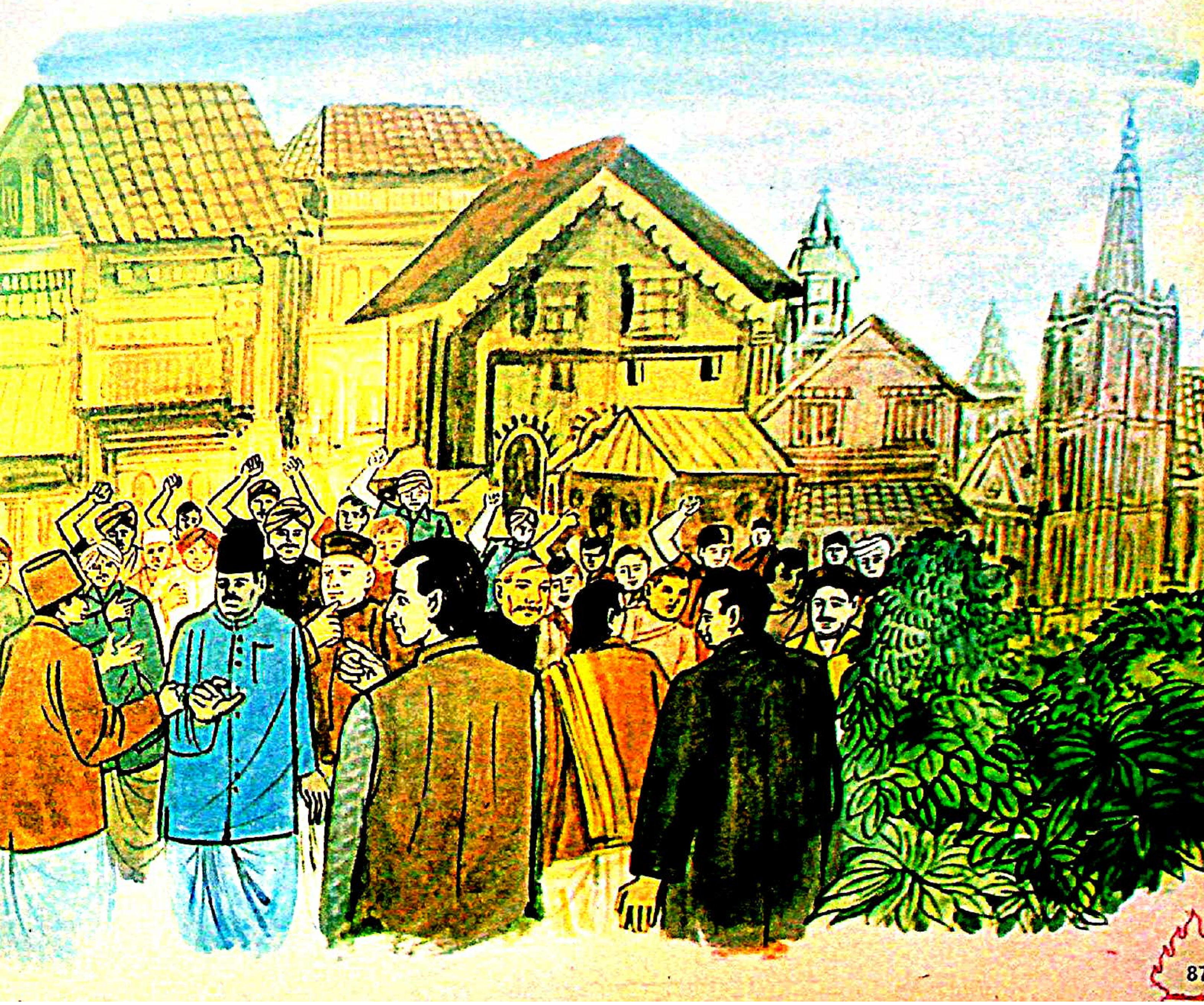
बम्बई में :—

२२ अक्तूबर १८७४ को स्वामी जी नासिक से बम्बई पहुंचे। स्टेशन पर भक्तों की भीड़ लग गई। बालकेश्वर के एक उत्तम आश्रम में स्वामी जी के निवास का प्रबन्ध किया गया।

स्वामी जी के आगमन से बम्बई निवासियों में हलचल मच गई। गली-गली और मुहल्ले-मुहल्ले में विभिन्न सम्प्रदायों और वर्गों के लोगों की जबान पर स्वामी की ही चर्चा रहने लगी। पाश्चात्य विचारों से सर्वप्रथम सम्पर्क में आने के कारण वहाँ के लोगों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना भी अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक थी। स्वामी जी के आगमन ने उस चेतना को झकझोर दिया।

स्वामी जी ज्यों-ज्यों नगरवासियों की चर्चा का विषय बनते गए, त्यों-त्यों उनके दर्शनार्थियों की और उनके विचारों के श्रवणार्थियों की संख्या भी लगातार बढ़ती गई।

उन दिनों बम्बई में वल्लभ सम्प्रदाय का बहुत जोर था। इस सम्प्रदाय की लीलाओं से आम लोग परिचित थे, परन्तु किसी की भी उनके विरोध में कुछ कहने की और उनकी लीलाओं तथा मान्यताओं का सप्रमाण खण्डन करने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। मथुरा में रहते हुए स्वामी जी इन लोगों की आन्तरिक लीलाओं से परिचित थे ही। बम्बई में जब उन्होंने इनका आचरण देखा तो उनके मन में अत्यन्त क्षोभ हुआ, और उन्होंने अपने व्याख्यानों में उनका प्रबल खण्डन प्रारम्भ कर दिया।





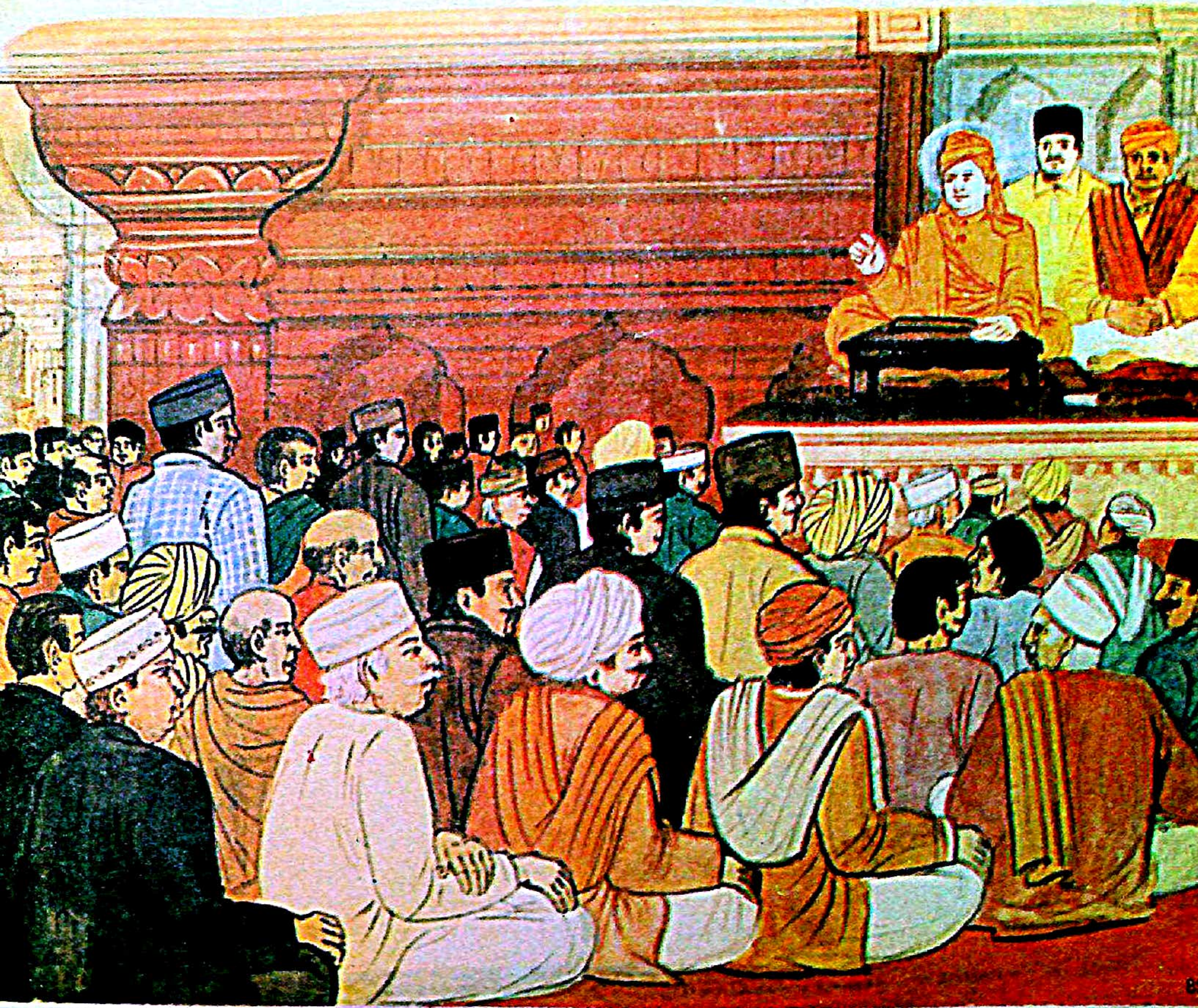
बालकेश्वर में एक जटाजूटधारी वैरागी बाबा पर्णकुटी बनाकर रहते थे। वे खाकी बाबा के नाम से मशहूर थे। शरीर उनका हृष्ट-पुष्ट, सुगठित और बलवान् था। नाम था उनका बलदेव सिंह। वह स्वामी जी के विचारों से इतने प्रभावित हुए कि जिन मूर्तियों की वे पूजा किया करते थे, उन्हें उठा कर पास के एक तालाब में फेंक दिया। जटाएं मुंडवा डालीं और अपनी कुटिया छोड़कर दिनरात स्वामी जी की सेवा में रहने लगे। रात के समय, दिन के समय, भ्रमण करते समय, व्याख्यान में और शंका-समाधान में भी वे सदा स्वामी जी के साथ रहते। यदि कोई व्यक्ति उद्दण्डता करता या स्वामी जी की ओर मैली आंखों से देखता तो पहलवान बलदेवसिंह उसको सबक सिखाने के लिए सन्नद्ध रहते।

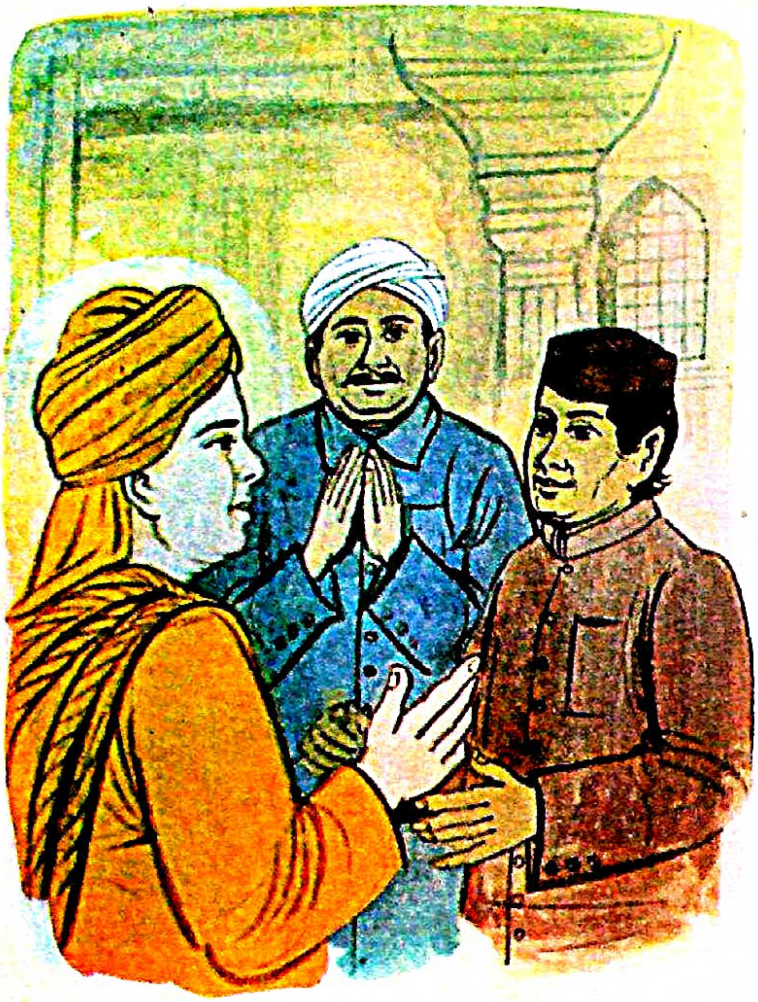
पंडित कृष्णराम इच्छाराम गुजरात निवासी थे। उन्होंने भी स्वामी जी की सेवा में रहकर अध्ययन करने और उनके लेखादि का कार्य करने की इच्छा व्यक्त की। स्वामी जी ने उनको सुयोग्य व्यक्ति समझ कर अपने पास रख लिया और उनसे लेखादि का कार्य लेने लगे। बम्बई-निवास में स्वामी जी ने संस्कार विधि, वल्लभ सम्प्रदाय मत खण्डन, स्वामी नारायणमत-खण्डन और वेदान्तध्वान्त-निवारण नामक पुस्तकें लिखीं। कृष्णराम इच्छाराम विचारों से वेदान्ती थे। स्वामी जी का लेखन-कार्य करते-करते और युक्ति-प्रत्युक्तियां लिखते-लिखते उनके विचारों में परिवर्तन हो गया और उनका वेदान्त धूएं की तरह उड़ गया।

माधोबाग में स्वामी जी के व्याख्यानों का सिलसिला भी जारी रहा जिससे बम्बई के शिक्षित समुदाय में स्वामी जी के विचारों के प्रति आस्था निरन्तर बढ़ती गई।

जिस तरह कलकत्ता में समाज सुधार की भावना से प्रेरित होकर केशवचन्द्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि ने ब्रह्मसमाज के नाम से अपने विचारों का प्रचार प्रारम्भ कर रखा था, वैसे ही पश्चिमी भारत के सुधारवादी और बुद्धिजीवी प्रार्थनासमाज के अनुयायी थे। कलकत्ता में जैसे ब्रह्मसमाजियों ने स्वामी जी का दिल खोल कर स्वागत किया था, वैसे ही बम्बई के प्रार्थनासमाजियों ने अपने यहाँ बुलाकर स्वामी जी का स्वागत किया और उनके व्याख्यानों की व्यवस्था की। प्रार्थनासमाज एक तरह से ब्रह्मसमाज की ही शाखा थी।

स्वामी जी ने इन व्याख्यानों में वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने के पक्ष का प्रबल रूप में समर्थन किया और स्पष्ट किया कि वेदों में एक ईश्वर की उपासना का विधान है। बहुदेवतावाद का उनमें संकेत तक नहीं है। स्वामी जी ने यह भी स्पष्ट किया कि भारत का उद्धार अपनी प्राचीन वैदिक सम्पदा को अपनाने ही से हो सकता है। जो देश अपने भूतकाल पर अभिमान नहीं करता उसका कोई भविष्य भी नहीं हो सकता।





आर्यसमाज का अभ्युदय

(१)

आनन्द सुधासार दयाकर पिला गया।
भारत को दयानन्द दुबारा जिला गया॥
डाला सुधार वारि बढ़ी बेल मेल की।
देखो समाज फूल फबीले खिला गया॥

(२)

फल खाते हैं लाखों फल खाने वाले।
पय पीते हैं वारुणी उड़ाने वाले॥
बन गए जती चकलों में जाने वाले।
छूटे छल-बल से पाप कमाने वाले।
शुद्ध सदाचार का शंख निःशंक बजाया।
समझो समाज ने क्या २ कर दिखलाया॥

बम्बई प्रान्त में ब्रह्म समाज का दूसरा रूप प्रार्थना समाज के रूप में विकसित हुआ। इसकी स्थापना सन् १८६७ में हुई। इसके नेता डा० आत्माराम पांडुरंग रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, महादेव गोविन्द रानडे आदि सज्जन थे। ये जाति प्रथा के उच्छेद, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा प्रोत्साहन तथा बाल विवाह निषेध के सुधारों पर बल देते थे। इस समाज का संगठन कुछ निश्चित नियमों पर नहीं हुआ। वह केवल ऐसे व्यक्तियों का समूह रहा जो हिन्दू धर्म की अनेक कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन करते थे। हिन्दू समाज में सुधार चाहते थे। किन्तु व्यवहार में हिन्दू कर्मकाण्ड व रूढ़ियों का पालन करते थे। यही कारण है कि प्रार्थना समाज एक शक्तिशाली संगठन न बन सका और उसका प्रभाव सामाजिक सुधार के आन्दोलन के अतिरिक्त बहुत ही कम और नगण्य रहा—यह ब्रह्म समाज की भांति जन-आन्दोलन न बन सका।

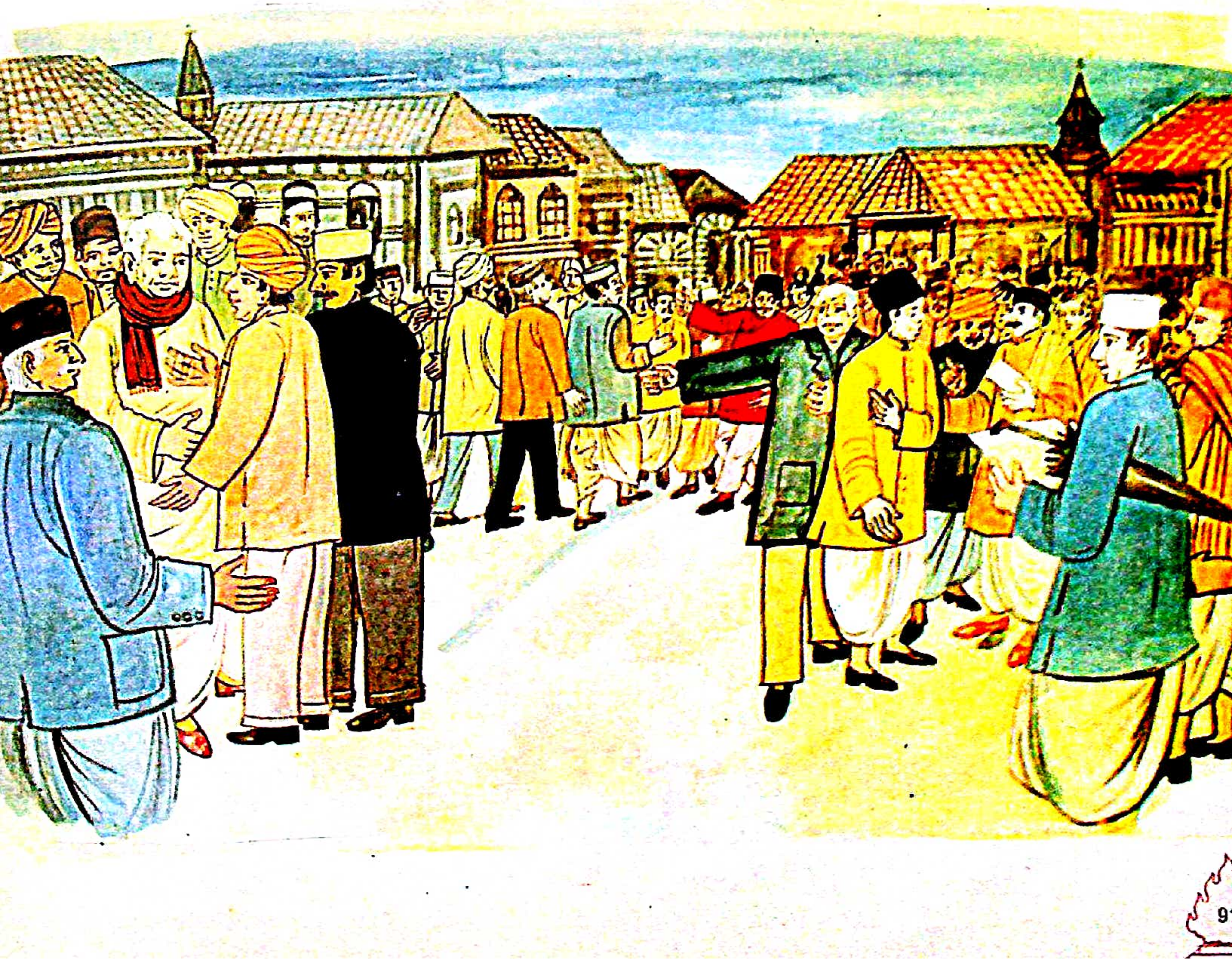
पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आने के पश्चात् जिन बुद्धिजीवियों ने अपनी प्राचीन संस्कृति और वाङ्मय का अनुशीलन करके आत्मविश्लेषण करना प्रारम्भ किया था और तदनुसार अपने समाज को ढालने की जिनके मन में उत्कट इच्छा थी उनमें से बहुत से प्रार्थना समाज के प्रभाव में थे।

पं० विष्णु परशुराम शास्त्री और डा० आर० जी० भण्डारकर दोनों अपने समय के संस्कृत के धुरन्धर पंडित थे। दोनों सुधारवादी थे। स्वामी जी के विचारों से और उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर इन दोनों महानुभावों ने स्वामी जी से अलग से विचार-विनिमय किया। कुछ बातों में उनका स्वामी जी से पूरा मतैक्य नहीं हो सका, पर समाज-सुधार के कार्यों में वे पूर्णतः स्वामी जी के समर्थक बन गए।

धीरे-धीरे स्वामी जी के भक्तों और प्रशंसकों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी। उधर जिनके मतों का स्वामी जी खण्डन करते थे, उनके अनुयायियों के मनों में स्वामी जी के विरोध की भावना घर करती गई। स्थिति यहाँ तक पहुंच गई कि बम्बई महानगरी की जनता के भी कुछ वर्ग दो दलों में बंट गए। यदि एक दल ज़ोर-शोर से स्वामी जी के विचारों का समर्थन करता तो दूसरा दल स्वामी जी के विचारों का विरोध करता। स्वामी जी के मन्तव्य ही जैसे आम जनता की चर्चा के विषय बन गए। परन्तु इससे स्वामी जी के भक्तों का उत्साह मन्द नहीं पड़ा, प्रत्युत उसमें और चार-चाँद लग गए।

बम्बई की सुबोध पत्रिका ने (२१-१२-१८७४) में लिखा था :—

"वल्लभाचार्य मत के नेताओं तथा अन्यों ने यह सोचा था कि स्वामी दयानन्द उनका समर्थन करेंगे, परन्तु उनके व्याख्यानों को सुनकर उन्होंने अपनी राय बदल दी। जब उन्होंने यह देखा कि स्वामी दयानन्द की मूर्ति पूजा के खंडन में दी हुई युक्तियों का उत्तर उनके पास नहीं है तो उन्होंने एक घोषणा-पत्र निकाल कर स्वामी दयानन्द का खंडन किया और उन्हें बुराभला भी कहा परन्तु कुछ व्यक्तियों ने उनके व्याख्यानों को सुनकर अपनी मूर्तियाँ मुम्बा देवी के तालाब में फेंक दीं। सेवक लालकरसन दास ने अपनी मूर्तियाँ टाउन हाल के म्यूजियम में रख दीं।"





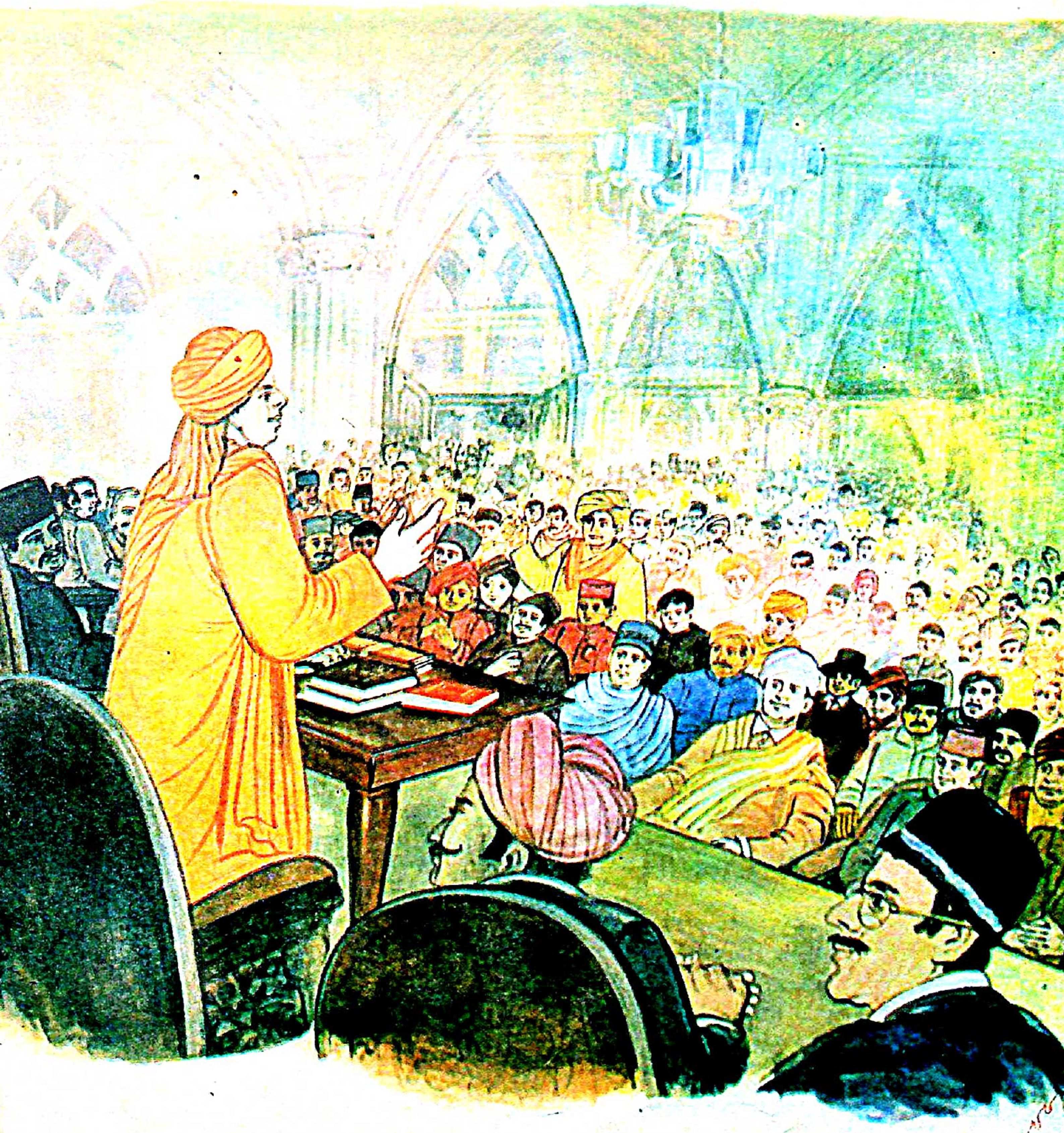
आर्यसमाज की स्थापना :—

इस बीच स्वामी जी को गुजरात प्रान्त के सूरत और अहमदाबाद नामक स्थानों पर प्रचार के लिए जाना पड़ा। कुछ मास तक गुजरात में प्रचार करने के पश्चात् जब स्वामी जी पुनः बम्बई पहुंचे, तब भक्तों ने स्वामी जी से उनके विचारों का स्थायी रूप से प्रचार करने के लिए एक संस्था स्थापित करने का अनुरोध किया। स्वामी जी इस विचार से सहमत हो गए और अन्त में प्रार्थनासमाज के मन्दिर के निकट माणिक जी की वाटिका (गिरगाम रोड) में १७ अप्रैल, सन् १८७५ को सायंकाल साढ़े पांच बजे यज्ञ करने के बाद एक सभा हुई जिस में आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना की गई। उस समय आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार करने वाले व्यक्तियों की संख्या १०० थी।

तभी आर्यसमाज के २८ नियम निर्धारित किए गए जो बाद में संशोधित करके १० कर दिए गए। आज भी 'आर्यसमाज के दस नियमों' के नाम से वे विख्यात हैं। इन दस नियमों का आर्यसमाज में वही महत्व है जो ईसाइयत में बाइबिल में वर्णित दस आदेशों (Ten commandments) का महत्त्व है।

आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् कुछ सभासदों ने स्वामी जी को उसका संरक्षक या सभापति बनाने का प्रस्ताव किया, परन्तु स्वामी जी ने उसे स्वीकार नहीं किया। बहुत आग्रह करने पर उन्होंने संरक्षक के बजाय केवल सामान्य सदस्य बनना स्वीकार किया।

बम्बई में कावसजी फ्रामजी हाल ऐसा भवन था जहाँ बड़े-बड़े ईसाई पादरियों और पाश्चात्य विद्वानों के भाषण हुआ करते थे। महानगर की सुशिक्षित जनता उन व्याख्यानों में बड़ी संख्या में उपस्थित होती थी। जब स्वामी जी के व्याख्यानों की व्यवस्था कावसजी फ्रामजी हाल में हुई तो पहले दिन इतनी अधिक संख्या में लोग आए कि हाल में तिल रखने को भी जगह नहीं रही। अगले दिन से स्वामी जी के व्याख्यानों के लिए टिकट की व्यवस्था करनी पड़ी जिससे श्रोताओं की भीड़ को नियंत्रित किया जा सके।



पं० गट्टूलाल शतावधानी थे और उनकी स्मरणशक्ति भी बहुत अच्छी थी। संस्कृत में काव्य-रचना का भी उनको अच्छा अभ्यास था। लोगों ने उनको स्वामी जी से शास्त्रार्थ के लिए बहुत उकसाया, पर वे तैयार न हुए। तब लोगों ने पं० कमलनयनाचार्य को शास्त्रार्थ के लिए तैयार किया। ये वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वान् और नेता समझे जाते थे और अपने सम्प्रदाय के स्तम्भ थे। अनेक मारवाड़ी धनपति उन्हें अपना गुरु मानते थे। पौराणिक लोग चाहते थे कि कोई ऐसा विद्वान् मिले जो वेदों से मूर्तिपूजा सिद्ध कर सके। उन्होंने इसीलिए पं० कमलनयनाचार्य को बम्बई बुलाया था।

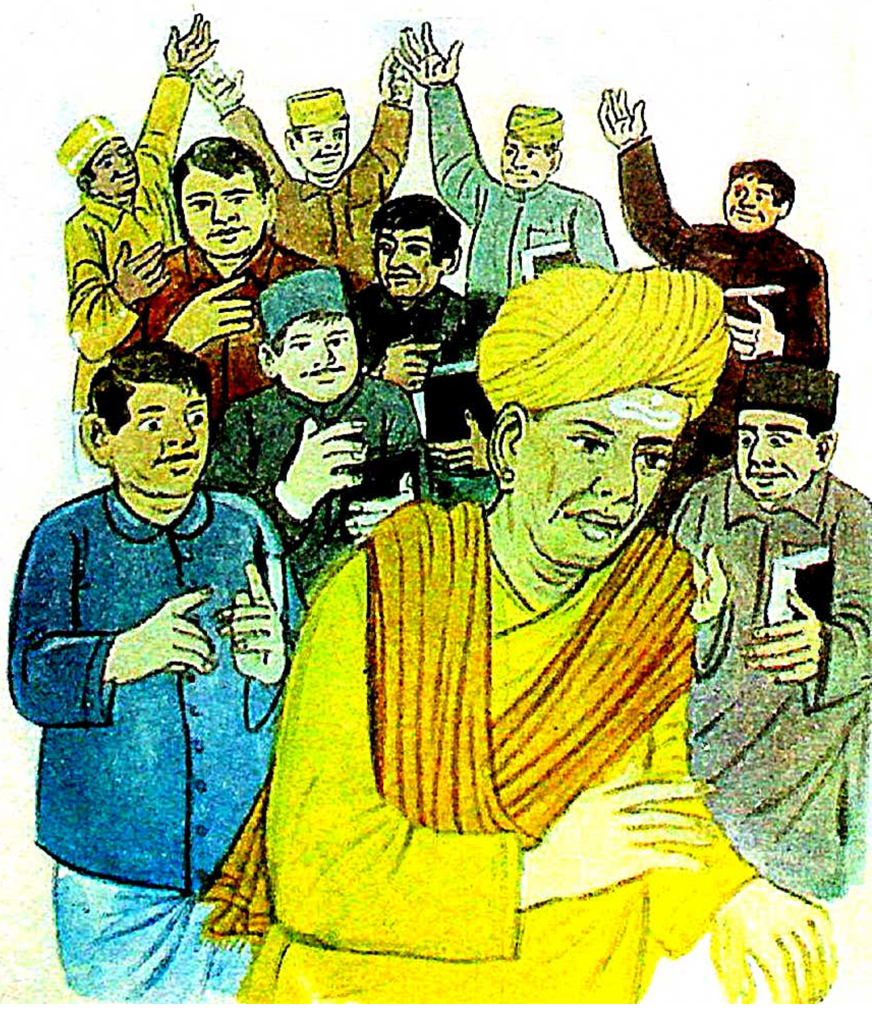
६ जून १८७५ को कावस जी फाम जी हाल में इस शास्त्रार्थ की व्यवस्था की गई। शहर के गण्यमान्य व्यक्ति वहाँ प्रभूत संख्या में उपस्थित थे। वेदादि ग्रन्थों को, जिनकी संख्या लगभग १५० थी, बीच में मेज पर सजा कर रख दिया गया जिससे किसी भी प्रमाण को तुरन्त वहीं ग्रन्थ खोल कर दिखाया जा सके।

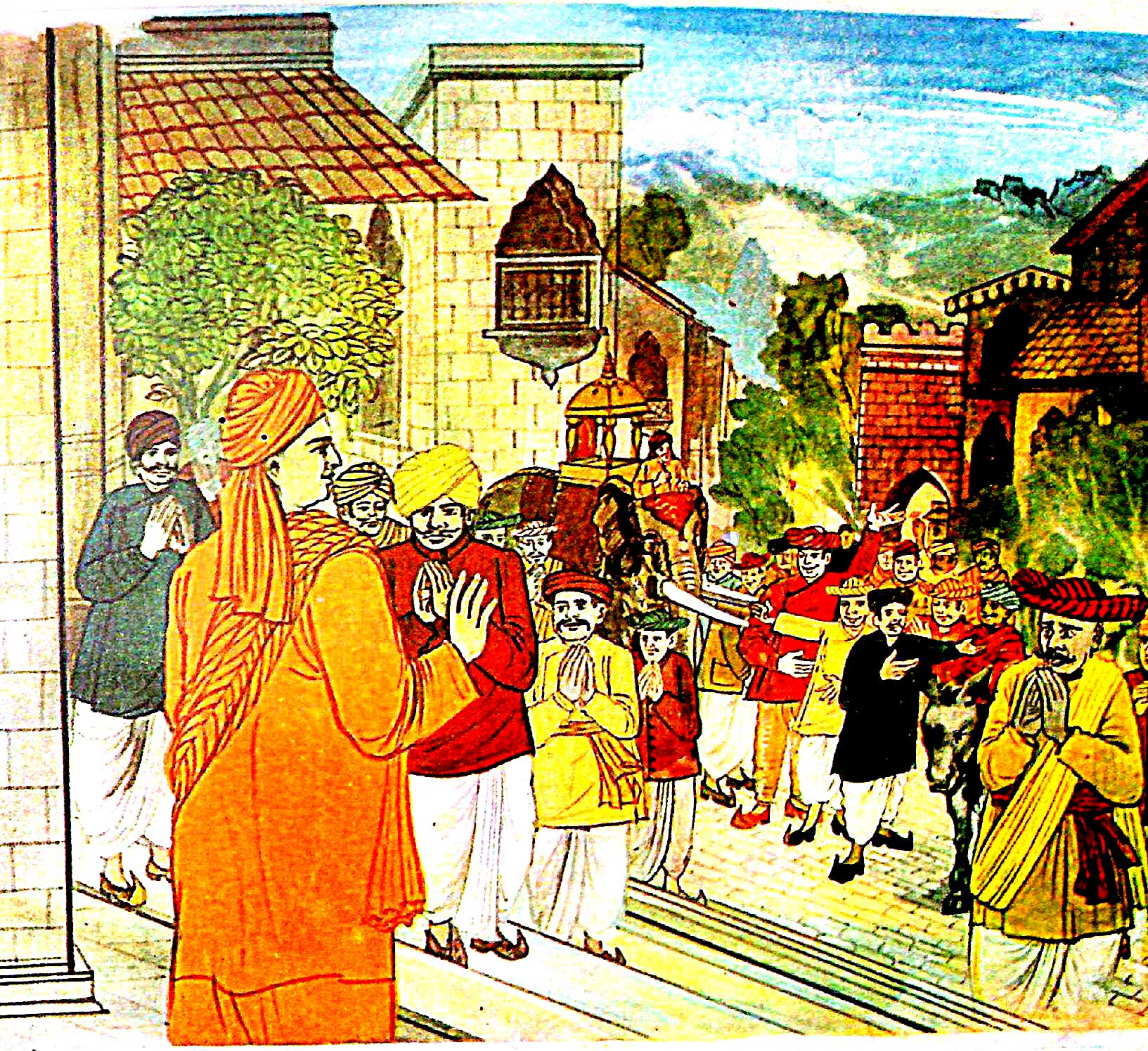
सभा का कार्य प्रारम्भ हुआ। पं० कमलनयन ने कहा कि इस सभा में उपस्थित श्रोता समुदाय इस योग्य नहीं है जो शास्त्रार्थ को सुनकर अपना निश्चय प्रकट कर सके, इसलिए भारतवर्ष के विभिन्न भागों से पण्डितों को बुलाकर उनके सामने शास्त्रार्थ होना चाहिए। सभापति ने कहा कि यह तो इस समय सम्भव नहीं है, हाँ यह हो सकता है कि दोनों पक्षों की ओर से जो भी कुछ कहा जाये उसे लिपिबद्ध कर लिया जाए और फिर उस पर दोनों पक्षों के हस्ताक्षर करवा के उसे सब पण्डितों को भेजकर उनकी राय ले ली जाए। परन्तु कमलनयनाचार्य इसके लिए तैयार नहीं हुए। तब सभापति ने तथा कमलनयनाचार्य के पक्ष के अन्य वरिष्ठ जनों ने उनसे बार-बार आग्रह किया कि अब तक आप यह कहते रहे हैं कि मूर्तिपूजा वेद-विहित है, तो अब जब आपके सामने अपने मन्तव्य को सप्रमाण उपस्थित करने का अवसर आया है, तब आप चुप्पी साध कर बैठ गये हैं। स्वामी जी ने भी बीच में रखे ग्रन्थों की ओर इशारा करते हुए कहा कि इनमें से किसी भी ग्रन्थ में से आप मूर्तिपूजा-समर्थक प्रमाण दिखाएं। कमलनयनाचार्य इस पर भी कुछ नहीं बोले।

अन्त में स्वामी जी ने अनेक वेदमन्त्रों से तथा तर्कों से मूर्तिपूजा का खण्डन किया और कहा कि सत्ययुग में मूर्ति-पूजा नहीं थी, यह तो कलियुग में बौद्धों और जैनियों ने प्रारम्भ की है। स्वामीजी के व्याख्यान से पौराणिक पण्डित-मण्डली भी खूब सन्तुष्ट हुई और सबके सामने यह बात प्रकट हो गई कि पंडित कमलनयनाचार्य में मूर्तिपूजा को वेद-विहित सिद्ध करने की शक्ति नहीं है। सभापति ने स्वामीजी के विजयी होने के उपलक्ष्य में उनके गले में पुष्पमाला डालकर उनका सत्कार किया।

जब पंडित कमलनयनाचार्य सभा-स्थल से वापिस जाने लगे तब स्वयं उन्हीं के बहुत से अनुयायी तथा कालेजों के छात्र उनपर तरह-तरह की फब्तियां कसने लगे।

इसी समय संस्कृत के महा विद्वान श्रीयुत श्याम जी कृष्ण वर्मा ने स्वामी जी महाराज के प्रथम दर्शन किये थे और उन्हें अपना गुरू मनोनीत किया था। कृष्ण वर्मा जी बड़े प्रतिभाशाली छात्र थे। संस्कृत में उनकी बढ़ी-चढ़ी गति थीं। स्वामी जी ने उन्हें पाणिनि का व्याकरण पढ़ाया था और उन्हीं की प्रेरणा तथा सहायता से वह इंग्लैंड भेजे गये थे। स्वामी जी उन्हें विदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए बहुत उपयुक्त व्यक्ति समझते थे। श्याम जी कृष्ण वर्मा वही हैं जो क्रान्तिकारियों के आदि गुरू के नाम से विख्यात हैं।





पूना में :—

बम्बई से स्वामी जी पूना गये। पूना महाराष्ट्र का केन्द्र है और सनातन धर्म का तथा संस्कृत विद्या का गढ़ है। पूना के पेशवा ब्राह्मण अपना राज्य स्थापित कर चुके हैं और अन्य मराठे राजाओं का शासन-सूत्र संभाल चुके हैं। उनमें स्वाभिमान की मात्रा भी कम नहीं है।

प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता और समाज-सुधारक महादेव गोविन्द रानाडे के निमन्त्रण पर स्वामीजी पूना गये थे। रानाडे के प्रयत्नों से हाथी पर स्वामीजी की शोभा यात्रा निकालने की तैयारी की गयी। जब पौराणिकों को यह पता लगा तो उन्होंने अपने मन की कलुषित भावना पूरी करने के लिए एक गधे पर गेरुए रंग की झूल डाली, उस पर एक व्यक्ति का मुंह काला करके बिठा दिया और उसकी सवारी खूब धूमधाम से निकाली। ताली पीटते, नाचते-गाते और 'स्वामी गर्दभानन्द सरस्वती की जय' के नारे लगाते हुए लोग उसके साथ चले। बड़ा हुल्लड़ मचा। स्वामीजी और रानाडे महोदय पर खूब कीचड़-कंकड़ पत्थर फेंके गये। वे सोचते थे कि इससे सत्यवादी की बोलती बन्द कर देंगे। पर इस व्यवहार से स्वामीजी का तो अपमान क्या होता, स्वयं उन महानुभावों के कीर्तिचन्द्र पर सदा के लिए कालिमा का कलंक लग गया।

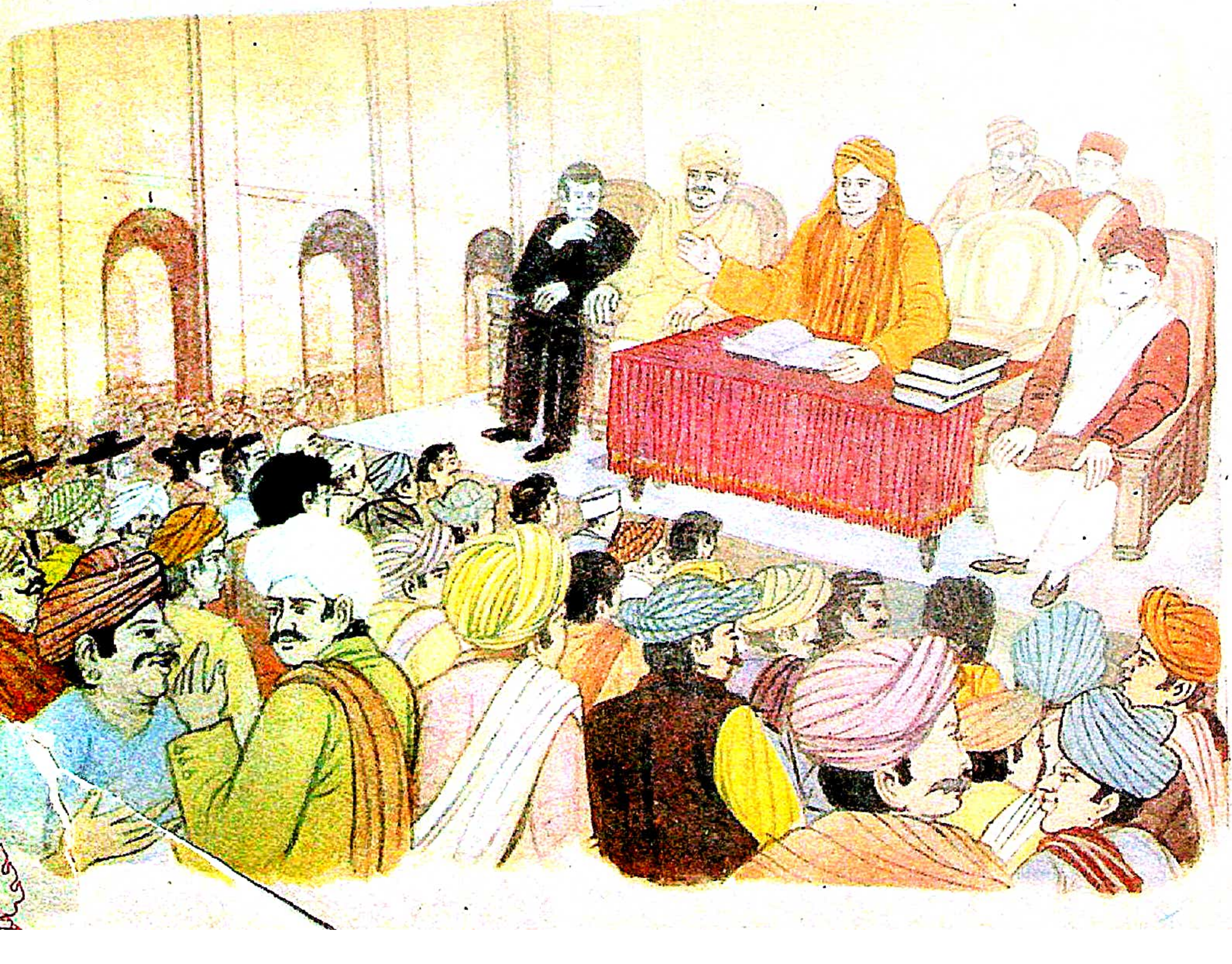
स्वामीजी ने पूना पहुंच कर सबसे पहले एक विज्ञापन दिया कि हम अमुक-अमुक ग्रन्थ को प्रामाणिक मानते हैं और अमुक-अमुक ग्रन्थ को अप्रामाणिक। इस विज्ञापन का अभिप्राय यह था कि यदि कोई व्यक्ति स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा करे तो इस बात का पहले से ही ध्यान रखे ताकि शास्त्रार्थ के समय अनावश्यक वाद-विवाद में समय बर्बाद न हो।

पूना में बुधवार पेठ में स्वामीजी के १५ व्याख्यान हुए और कैम्प के मराठी स्कूल में ३५ व्याख्यान हुए। इस प्रकार पूना निवास में उनके कुल ५० व्याख्यान हुए जो सब लिपिबद्ध करके बाद में पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुए।

श्री स्वामी जी पूना में श्री शंकर सेठ के मकान पर ठहरे थे और स्वामी जी के व्याख्यान मराठी स्कूल तथा भिड़े के वाड़े में भी हुए थे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है। पूना में स्वामी जी के ५० व्याख्यान हुए जो बड़े मार्के के थे और जिन्हें हजारों व्यक्ति मंत्र मुग्ध होकर सुनते थे। अनेक व्यक्तियों ने मूर्ति पूजा करना छोड़ दिया था और समाज सुधार के कार्य में रस लेना शुरू कर दिया था। स्वामी जी ने पूना में पंडितों को शास्त्रार्थ का चेलेन्ज दिया परन्तु किसी की भी हिम्मत इस चैलेन्ज को स्वीकार करने की न हुई।

हितेच्छु ने १८-८-१८७५ के अंक में घोषणा की थी कि—पूना के पंडित स्वामी जी के साथ खुला शास्त्रार्थ करने का साहस करेंगे ऐसी कोई संभावना नहीं है। वे शास्त्रार्थ से बचने के लिये चालबाजियों से काम लेना जारी रखेंगे। पूना में दो दल हो गये थे। एक स्वामी जी का विरोधी और दूसरा पक्षपाती था। विरोधी दल ने स्वामी जी को बदनाम करने और उनका अपमान करने में कसर न उठा रखी थी परन्तु स्वामी जी मान अपमान से ऊपर थे जैसा कि अन्यत्र भी वह इसका भव्य परिचय दे चुके थे।





महादेव गोविन्द रानाडे उस समय पूना में न्यायाधीश थे। उसके बाद वे बम्बई उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश बने। वे स्वामी जी की शिक्षा और उपदेशों से बहुत प्रभावित थे और स्वामी जी को गुरु की तरह पूज्य मानते थे। उन्होंने पूना में हुएं स्वामी जी के व्याख्यानों का स्वयं सम्पादन किया उनका आर्यभाषा में अनुवाद कराया, (क्योंकि वे व्याख्यान अधिकतर संस्कृत में होते थे) और बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया।

पूना में स्वामी जी के व्याख्यानों ने पौराणिकों की मण्डली के हृदयों को भी आडोलित कर दिया।

महादेव गोविन्द रानाडे के साथ अनेक मूर्धन्य विद्वान् तथा अन्य अनेक समाज सुधारक स्वामी जी के पास आकर विचार-विनिमय करते रहे और स्वामी जी सबको बड़े स्नेह से समझाते रहे।

पूना से स्वामी जी बड़ौदा गए। वहाँ सर टी० माधवराव ने उनके ठहरने की और आतिथ्य की व्यवस्था की। उन दिनों बड़ौदा में शीत का आधिक्य था, इसलिए सर माधवराव ने स्वामी जी के पास उत्तम गद्दी, तकिया और रजाई भिजवाई, पर स्वामी जी ने उनमें से किसी भी चीज का उपयोग नहीं किया। उन दिनों स्वामी जी एक दरी बिछा कर और एक चादर ओढ़ कर सो जाते थे।

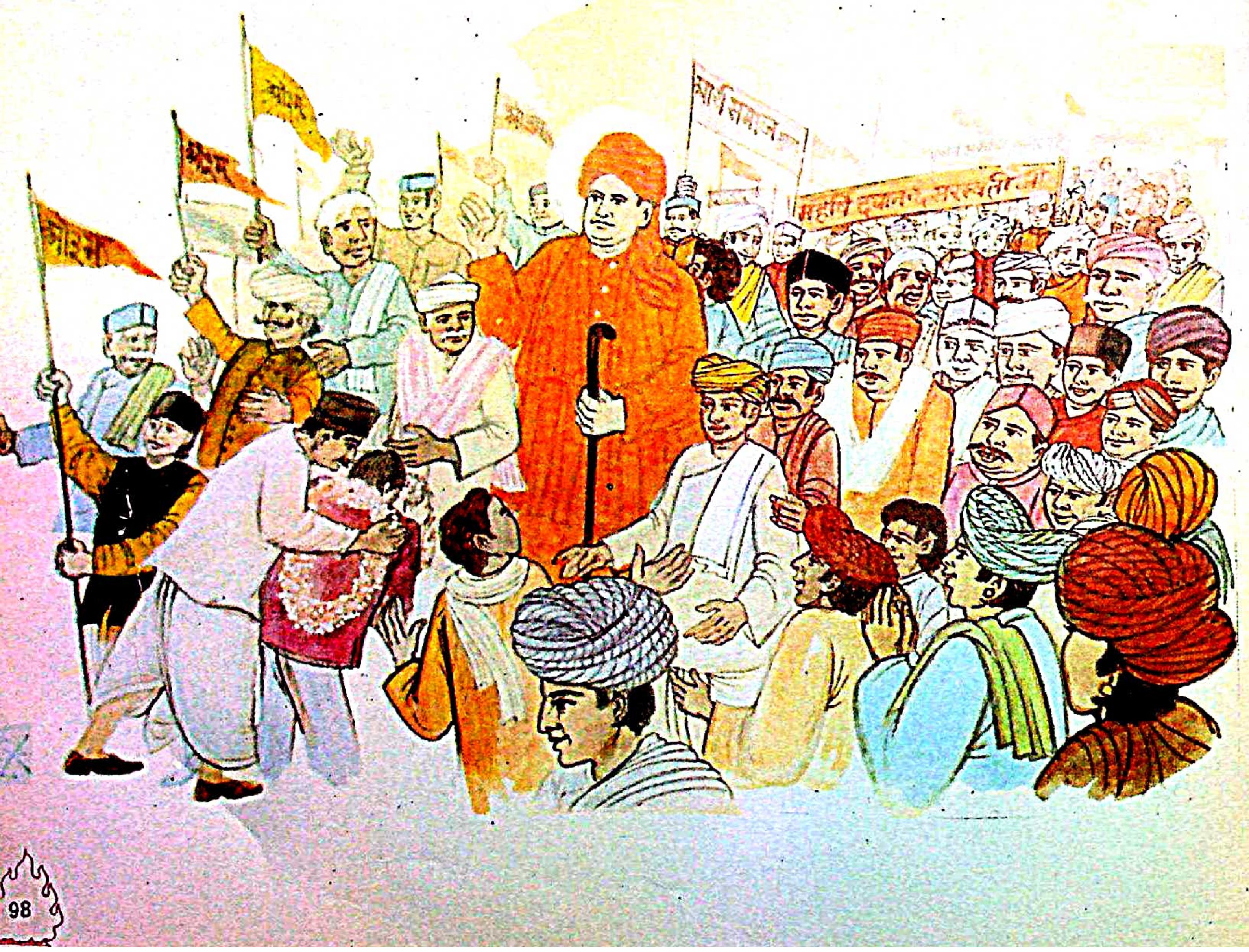
बड़ौदा के मुख्य न्यायाधीश राव बहादुर गोपालराव हरिदेशमुख और उनके सुपुत्र रामचन्द्र गोपाल देशमुख ने, जो उन दिनों नगर न्यायाधीश थे, स्वामी जी के व्याख्यानों की व्यवस्था में बहुत योग दिया।

सर टी० माधवराव ने विदाई के समय चाँदी के थाल में एक सहस्र मुद्रा तथा कुछ रेशमी वस्त्र स्वामी जी को भेंट देने के लिए प्रस्तुत किये, पर स्वामी जी ने विनयपूर्वक उन सबको लेने से इन्कार करते हुए कहा कि हम अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों की तरह नहीं हैं।

बड़ौदा से स्वामी जी अहमदाबाद होते हुए सन् १८७६ के प्रारम्भ में पुन: बम्बई पहुंचे। इस बार बम्बई-निवासियों ने और भी अधिक उत्साह से स्वामी जी का स्वागत किया। 'ओउम्', 'आर्यसमाज अमर रहे' तथा 'महर्षि दयानन्द सरस्वती की जय' के नारों वाली पताकाएं और फूलमालाएं लेकर सैंकड़ों की संख्या में लोग स्टेशन पर पहुंचे।

इस बार स्वामी जी का पहला व्याख्यान (५-३-१८७६) वेदों की महत्ता और पवित्रता विषय पर हुआ। इस व्याख्यान में बम्बई के जन सामान्य के अतिरिक्त बम्बई के अनेक प्रसिद्ध हिन्दुओ ने और आक्सफोर्ड के सुप्रसिद्ध संस्कृत प्रोफेसर मोनियर विलियम्स और बम्बई के कलक्टर मि० शैपर्ड ने भी भाग लिया।

यद्यपि व्याख्यान हिन्दी में दिया गया था तथापि यूरोपीय महानुभावों ने उसे समझ कर उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। इन दोनों महानुभावों को आर्यसमाज की ओर से आर्यसमाज के नियम तथा अन्य वैदिक साहित्य भेंट किया गया और प्रोफेसर महोदय का स्वामी जी महाराज के साथ संस्कृत में बड़ा महत्वपूर्ण वार्तालाप भी हुआ था।



इस बार पण्डित रामलाल ने स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने की हिम्मत की। हिम्मत तो कर डाली, पर उल्टे लेने के देने पड़ गए। चले थे स्वामी जी को परास्त करने, पर अन्त में स्वयं यह स्वीकार कर गए कि हम मूर्तिपूजा को वेद से सिद्ध नहीं कर सकते।

एक दिन बम्बई के प्रसिद्ध सेठ गोकुलदास, जो वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे, स्वामी जी के पास आए और उनसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि यदि आप मूर्ति-पूजा का खण्डन करना छोड़ दें तो सब भाटियों को मैं आपका अनुयायी बना दूंगा। परन्तु स्वामी जी ने स्पष्ट कह दिया कि हम कभी सत्य से विरत नहीं हो सकते और न ही कभी असत्य का पक्ष ले सकते हैं। ऐसे प्रलोभन स्वामी जी के समक्ष न जाने कितने रूपों में और कितनी बार आए, पर कोई प्रलोभन उन्हें सत्य पथ से विचलित नहीं कर सका।

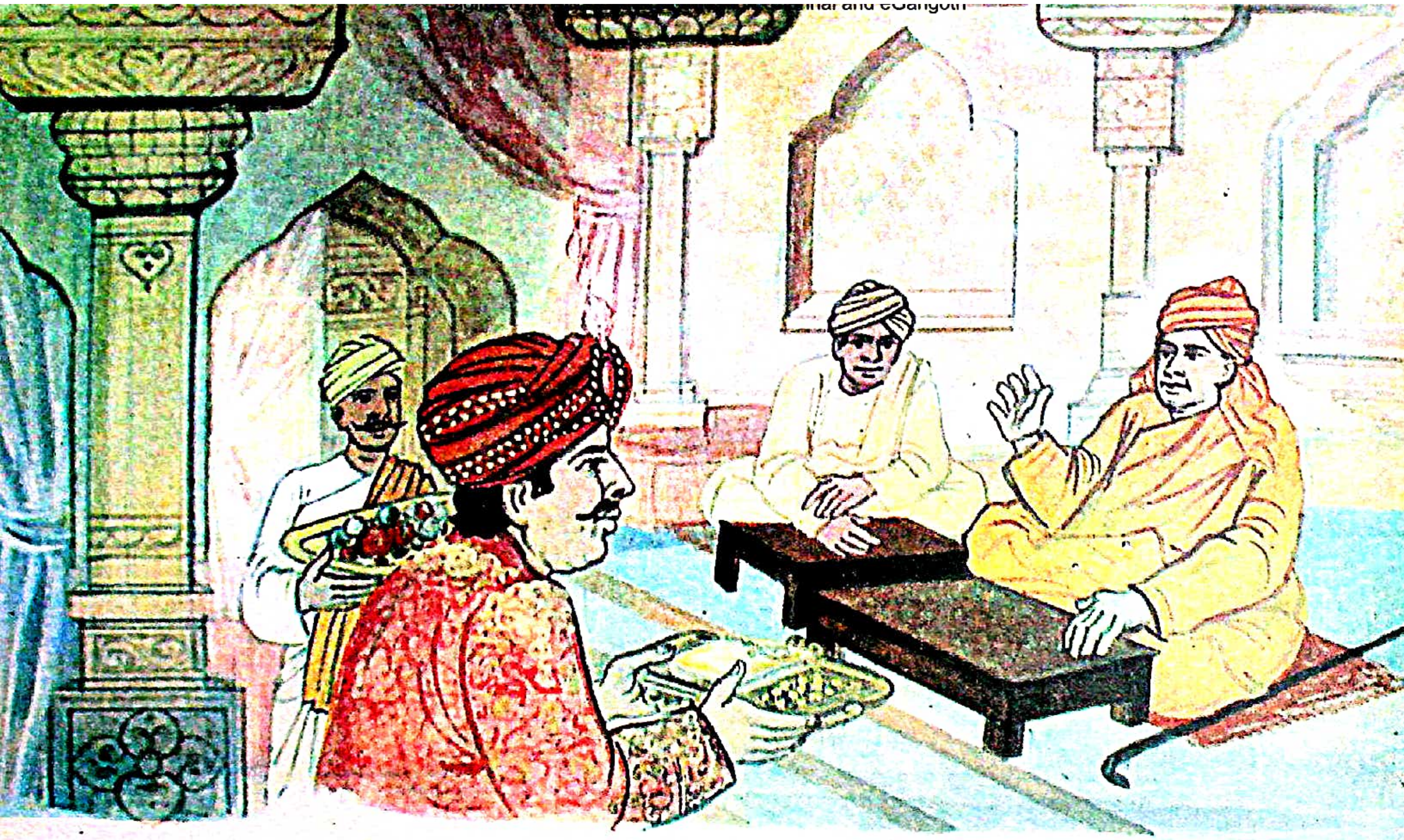
बम्बई के विभिन्न स्थानों पर स्वामी जी व्याख्यान देने को निरन्तर जाते रहे।

सेठ गोकुलदास के वल्लभ सम्प्रदाय के विरुद्ध होने की एक घटना थी और वह यह कि सेठ जी की विधवा पुत्री एक ५०००) रु० के मूल्य का गले का हार पहिन कर गोसाईयों के मन्दिर में गयी एक गोसाई ने वह हार उस लड़की से ऐंठ लिया। सेठ गोकुलदास ने एक दिन एक गोसाइन को वह हार पहने देख लिया परन्तु कहा कुछ नहीं। घर लौटकर उन्होंने अपनी बेटी को बुरा-भला कहा और चोरी के आरोप में गोसाईयों पर मुकद्दमा चलाने की बात कही। लड़की ने गोसाई को बचाने के लिए कह दिया कि उसने हार को देखने के लिये लिया था और वह उस जैसा हार बनवाना चाहता था। उससे सुनार को दिखाने के लिये ही वह हार उससे लिया था। इसके बाद गोसाई ने वह हार सेठ जी की पुत्री को लौटा दिया।

बम्बई के इस बार के आवास में स्वामी जी महाराज के अनेक स्थानों पर व्याख्यान हुए। व्याख्यान के विषय में मुख्यतः परमात्मा का अस्तित्व, उसके गुण आर्यों के इतिहास तथा नवयुवकों के कर्तव्य थे।

पुराण-पंथियों पर हुए स्वामी जी के प्रहार से उनकी अवस्था डूबते हुए व्यक्ति जैसी हो गयी थी और वे तिनके के सहारे के रूप में उस हरेक आदमी के पीछे पड़ जाते थे जो स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये उपयुक्त देख पड़ता था।





स्वामी जी के बम्बई प्रचार की प्रशंसा में बंगदर्शन कलकत्ता के पत्र प्रतिनिधि ने लिखा था—

"यह एक चमत्कार है कि एक सुप्रसिद्ध वैदिक स्कालर वेदों को हिन्दुओं के सच्चे शास्त्र सिद्ध करता है और दिखाता है कि उन्नीसवीं शती के उच्चतम एवं श्रेष्ठतम विचार वेदों में सन्निहित है। दयानन्द अंग्रेजी का एक अक्षर भी नहीं जानते हैं। यह उनके लिये अच्छी बात है। यदि वह अंग्रेजी जानते हुए होते तो लोग कहते कि अंग्रेजी शिक्षा ने उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी है। अंग्रेजी जानने वाले व्यक्ति के विचार केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को ही प्रभावित कर सकते हैं। कट्टर पंथियों की दृष्टि में उनका कोई मूल्य नहीं होता। परन्तु जब कोई बिना अंग्रेजी पढ़ा व्यक्ति संस्कृत के वेद शास्त्रों पर निर्भर रह कर लोगों को सच्चा धर्म बताता है तो उसकी बात उन पर असर कर जाती है। दयानन्द एक मात्र वेदों की व्याख्या करते हैं जो हिन्दुओं के परमपवित्र ग्रन्थ समझे एवं स्वीकार किये जाते हैं। इसलिए दयानन्द स्वामी ने पुराण पन्थी समाज में हलचल मचा दी है।"

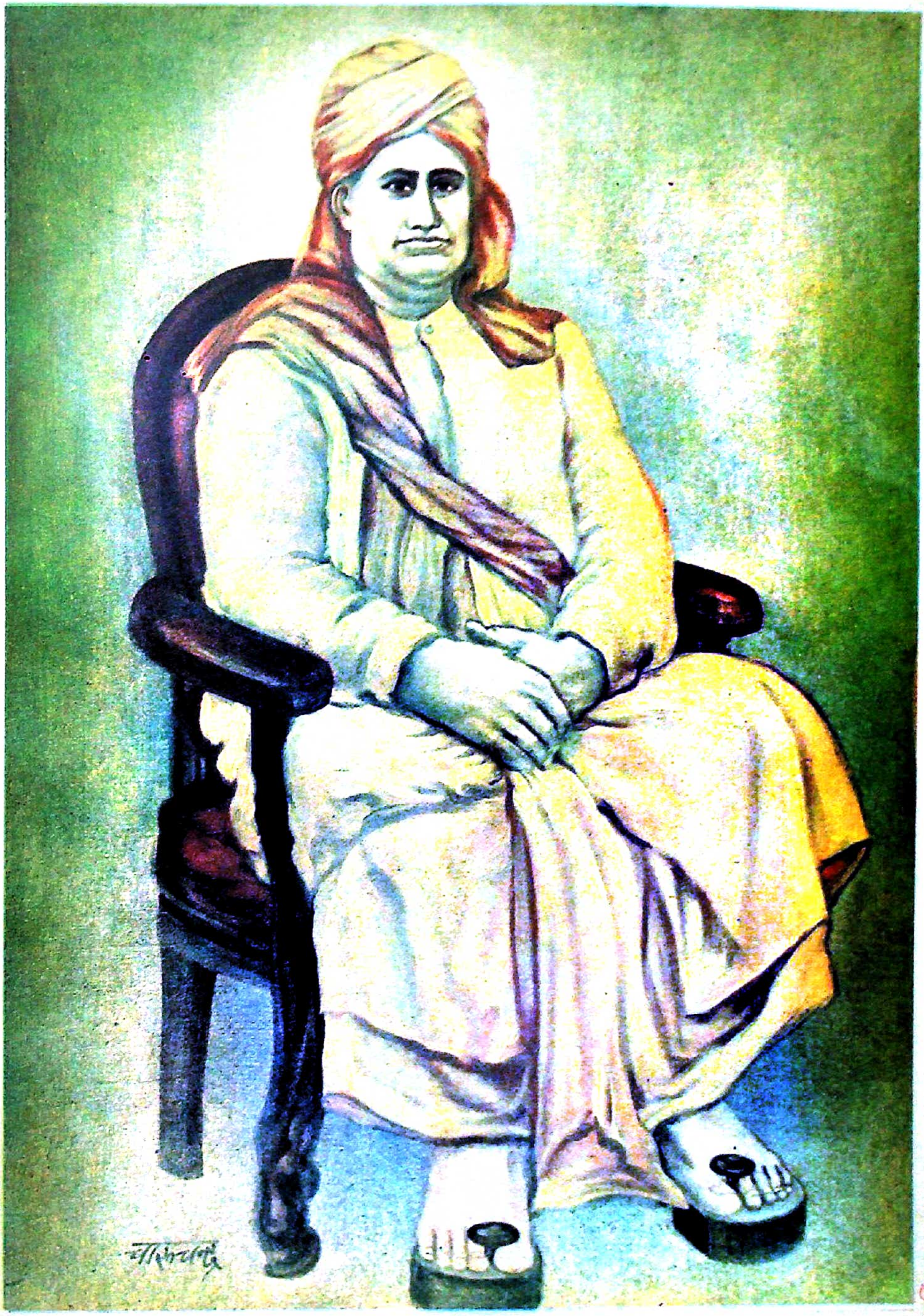
इन्दौर में :—

१८७६ के अप्रैल मास में स्वामी जी बम्बई से इन्दौर पहुंचे और वहाँ महाराजा के लालबाग में ठहरे। ठाकुर गणपति सिंह ने उनके ठहरने की व्यवस्था की।

यहां भी प्रधान राजकर्मचारी तथा सम्भ्रान्त लोग स्वामी जी से मिलने और उनके व्याख्यान सुनने आते रहे। एक व्याख्यान में महाराजा तुकोजिराव स्वयं पधारे। उस दिन कुछ पौराणिक पण्डितों ने कुछ कोलाहल करने की कोशिश की, पर स्वयं तुकोजिराव की उपस्थिति के कारण वे कृतकार्य न हो सके। इसके बाद महाराजा अनेक बार स्वामी जी से मिलने आए और उनसे राजधर्म का उपदेश ग्रहण किया।

विदाई के समय महाराजा तुकोजिराव ने स्वामी जी को बहुत सी मुद्राएं, शाल और फल-फूल तथा मिष्टान्न देकर उनका सत्कार किया। स्वामी जी ने राजा से कहा : "शाल उनको दीजिए जो शीत से ठिठुरते हैं, मैं शाल लेकर क्या करूँगा। यदि प्रत्येक राजा मुझे इसी प्रकार शाल तथा अन्य वस्तुएँ देने लगे तो मेरे पास गृहस्थियों से भी अधिक साज-सामान और बोझ हो जाएगा और तब मैं निर्द्वन्द्व होकर परोपकार के लिए भ्रमण कैसे कर सकूंगा।"

महाराजा तुकोजिराव ने वेदभाष्य प्रकाशित होने पर उसकी ५० प्रतियां खरीदने का वचन दिया।

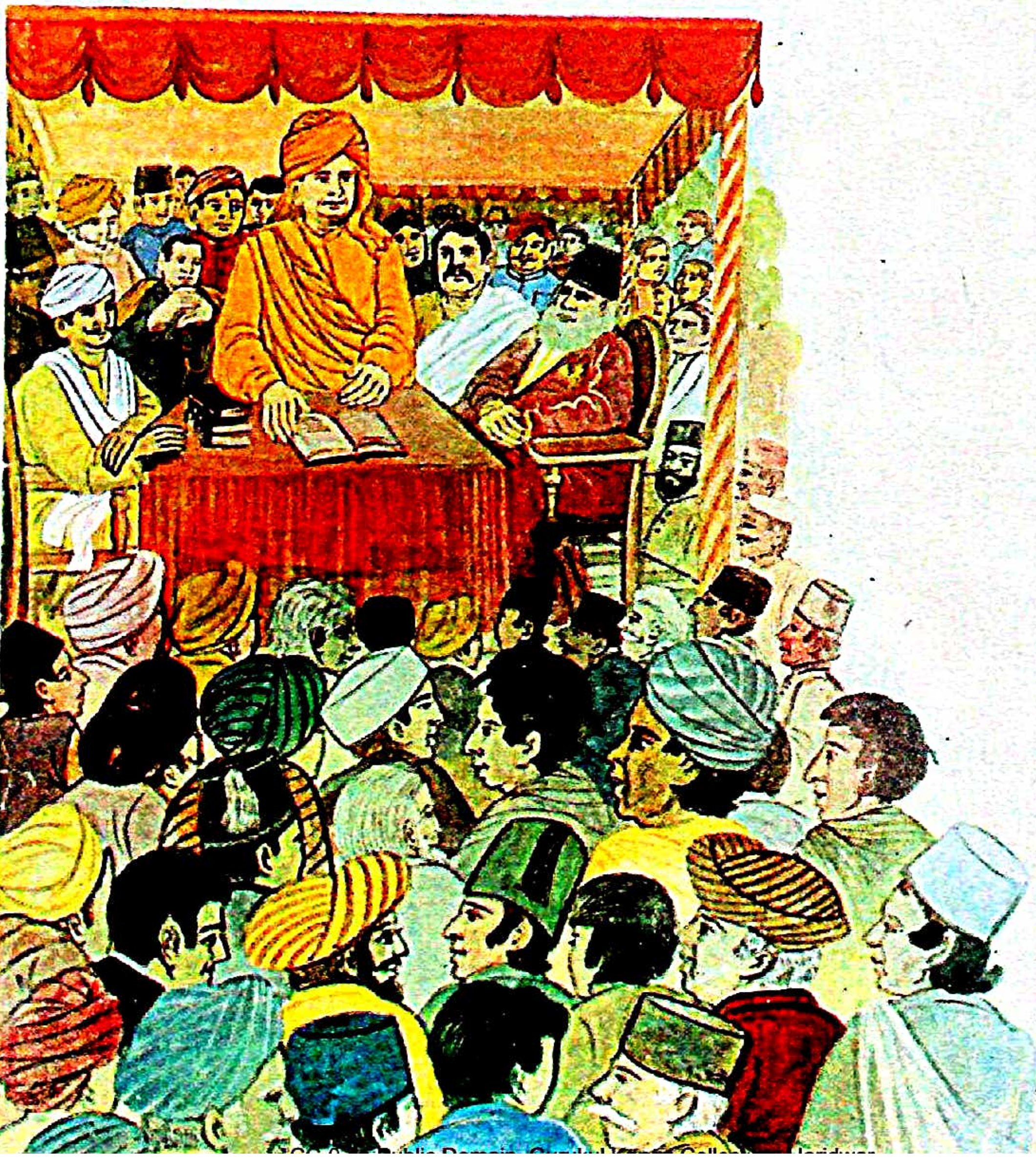


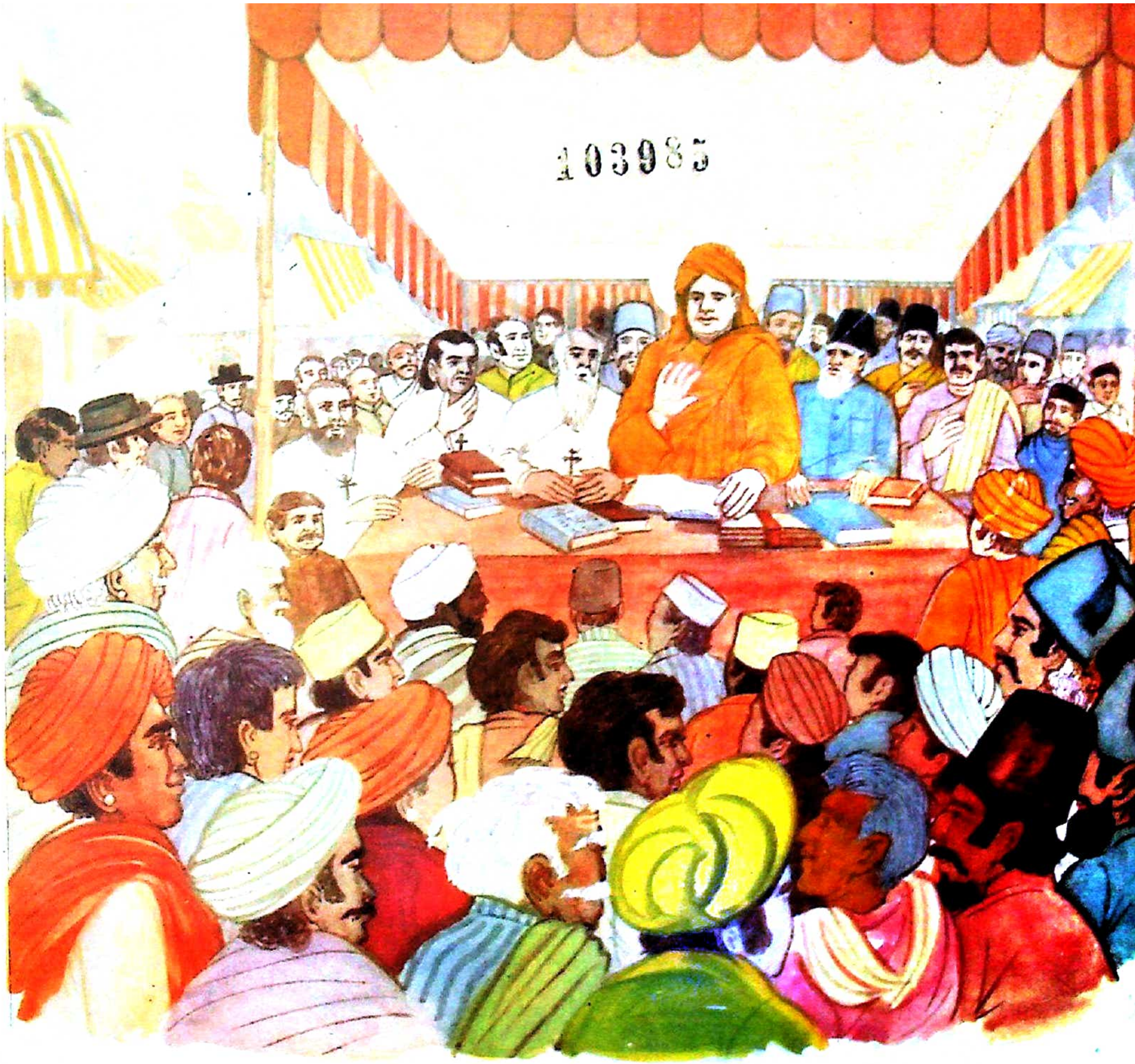
दिल्ली दरबार :—

दिल्ली ऐतिहासिक नगरी है। महाभारत के समय से वह भारतीय राज्यसत्ता का केन्द्र रही है। कितने साम्राज्यों का उत्थान-पतन इस महानगरी ने देखा है। लालकिला, कुतुबमीनार, महरौली का लोहस्तम्भ, अशोक की लाट, और पाण्डवों का किला आज भी बीते युगों की कहानी कहते हैं।

इसी दिल्ली में महारानी विक्टोरिया के भारत की साम्राज्ञी घोषित होने के उपलक्ष्य में १ जनवरी सन् १८७७ ई० को विशाल दरबार की तैयारी की गई। लार्ड लिटन उस समय भारत के वायसराय थे। उन्होंने देश भर के राजा-महाराजों को उस दरबार में निमंत्रित किया था। स्वामी जी उस समय बम्बई से लौट कर उत्तरप्रदेश के विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर रहे थे।

स्वामी जी का विचार था कि राजाओं के बिना सुधरे प्रजा नहीं सुधर सकती। इसके अतिरिक्त वे यह समझते थे कि इस समय देश में जितने भी प्रगतिशील और सुधारवादी विचारों के नेता हैं, भले ही वे किसी भी मत के अनुयायी हों, उन सबको एकत्र करके देशहित के लिए प्रेरित किया जा सकता है। उक्त दोनों उद्देश्यों की पूर्ति का सुनहरा अवसर जानकर स्वामी जी दिसम्बर के अन्त में दिल्ली पहुंच गए। उन्होंने सब राजाओं को एकत्र करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर उन्होंने ब्रह्मसमाज के सूत्रधार बाबू केशवचन्द्र सेन तथा बाबू नवीन चन्द्रराय, सुधारवादी मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खां, बाबू हरीश्चन्द चिन्तामणि कन्हैयालाल अलखधारी और मुंशी इन्द्रमन आदि महानुभावों की संगोष्ठी बुलाकर उनसे विचार-विनिमय किया। राजाओं को एकत्र करने का उत्तरदायित्व इन्दौर नरेश तुकोजिराव ने लिया था। पर दरबार की धूमधाम और नित्य नए-नए मनोरंजनों की भरमार ने राजाओं को स्वामी जी से विचार विनिमय का अवसर नहीं दिया। धार्मिक और सामाजिक नेता अवश्य एकत्र हुए, स्वामी जी ने कर्मकाण्ड और उपासना-विधि सम्बन्धी भेदभाव भुलाकर आपसी समानताओं के आधार पर सबको एक मत के प्रचार के लिए आह्वान किया। पर विभिन्न मतों के लोग अपने क्षुद्र साम्प्रदायिक स्वार्थों को छोड़ने पर सहमत नहीं हो सके। इस प्रकार स्वामी जी का राजाओं की एकता और सर्वधर्म समन्वय का उद्देश्य अपूर्ण ही रह गया।





चांदापुर शास्त्रार्थ :—

दरबार की समाप्ति पर स्वामी जी दिल्ली से प्रस्थान कर मेरठ होते हुए सहारनपुर पहुंचे। वहां उन्हें पता लगा कि चाँदापुर (शाहजहाँ पुर) में एक विशाल धार्मिक मेला होने वाला है जिसमें ईसाई और मुसलमान विद्वान् भी यह निर्णय करने के लिए एकत्र होंगे कि कौन सा धर्म सच्चा है। मेले के संयोजकों ने स्वामी जी को भी निमंत्रित किया।

मुसलमानों की ओर से देवबन्द मदरसे के प्रसिद्ध मौलवी मुहम्मद कासिम और दिल्ली के मौलवी सैयद अब्दुल मंसूर; ईसाईयों की ओर से पादरी स्काट, पादरी नवल, पादरी पार्कर ; और आर्यपुरुषों की ओर से स्वामी दयानन्द और मुंशी इन्द्रमणि उपस्थित हुए। कबीर पन्थी तो इस मेले के संयोजक और संचालक ही थे। शास्त्रार्थ के लिए पांच प्रश्न रखे गए जिन पर सब मतावलम्बियों को अपने विचार व्यक्त करने थे। वे पांच प्रश्न येहैं :—

(१) परमेश्वर ने जगत को किस वस्तु से बनाया ? (२) ईश्वर सर्वव्यापक है या नहीं ? (३) ईश्वर न्यायकारी और दयालु दोनों एक साथ कैसे हो सकता है ? (४) वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वर की वाणी होने का क्या प्रमाण है ? (५) मुक्ति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त हो सकती है ?

मेले में दो दिन तक गम्भीर शास्त्रीय चर्चा होती रही। मौलवियों और पादरियों को उस मेले में चेतावनी मिल गई कि वैदिक सिद्धान्तों के सामने अन्य कोई मत तर्क और युक्ति की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता।

पंजाब की ओर :—

चाँदापुर के मेले में वैदिक-धर्म की विजय-दुन्दुभि बजाकर स्वामी जी शाहजहांपुर और सहारनपुर होते हुए पंजाब की ओर चले।

पांच नदियों से प्रक्षालित होने के कारण अपने 'पंजाब' नाम को सार्थक करने वाला पंजाब प्रदेश प्राचीनकाल में जहां ऋषि मुनियों की निवास भूमि रहा है, वहाँ सिकन्दर के समय से लेकर बाद में सैंकड़ों सालों तक विदेशियों और विधर्मियों के दुर्दान्त आक्रमणों का निरन्तर प्रतिरोध करते रहने के कारण वह वीर भूमि भी रहा। कवियों ने इसीलिए पंजाब को भारत-माता की खड्गधारिणी भुजा कहा है।

जिस समय स्वामी जी ने पंजाब की ओर प्रस्थान किया उस समय मुल्ला-मौलवी और ईसाई पादरी दोनों मिलकर पकी खेती दोनों हाथों से काट रहे थे। मुगलों के शासन में जिस तरह इस्लाम ने अधिकांश जन-समुदाय को अपना अनुयायी बना लिया था, उसी तरह अंग्रेजों के शासन में समस्त शिक्षित समाज पर ईसाइयत का प्रभाव दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता जाता था। हिन्दू जाति अपने को निस्सहाय पा रही थी और उसका अपना आत्म-विश्वास दिन-प्रतिदिन ह्रास को प्राप्त हो रहा था।

ऐसे समय स्वामी जी का पंजाब में आगमन इस प्रदेश के लिए संजीवनी का सन्देश लेकर आया।



पंजाब की भूमि वीर भूमि के नाम से विख्यात है। इसी भूमि में देश का सबसे बढ़िया इतिहास बना है। किम्वदन्ती है कि लाहौर को राम के पुत्र लव ने बसाया था।

पंजाब में ही तक्ष शिला का सुप्रसिद्ध विद्या मंदिर था। इसी भूमि पर पुरु ने सिकन्दर के दांत खट्टे किए थे। इसी भूमि ने गुरू गोविन्द सिंह जी प्रभृति हिन्दू हित रक्षकों को पैदा किया था। इसी भूमि को वीर हकीकत राय जैसे बलिदानियों को पैदा करने का यश प्राप्त रहा है। परन्तु विधर्मियों के भारत पर आक्रमणों का सर्वप्रथम यही शिकार हुआ जो सांस्कृतिक दृष्टि से भी बड़े घातक सिद्ध हुए।

पंजाब की इसी भूमि पर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के वर्तमान में प्रचलित १० नियमों का निर्धारण किया था। जो इस प्रकार हैं :—

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

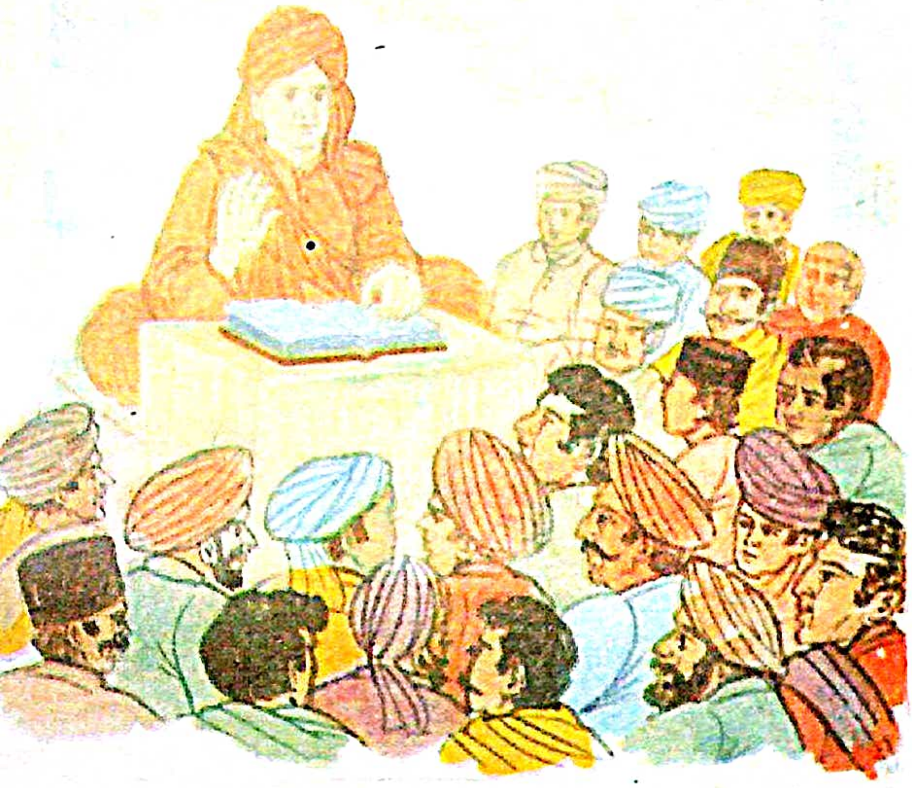
६—संसार का उपकार इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।



ओ३म् स समिद्युवसे............ ऋगवेद...........

(१)

हे प्रभो ! तुम शक्तिशाली हो बनाते सृष्टि को।
वेद सब गाते तुम्हें हैं, कीजिए धन वृष्टि को॥

(२)

संगच्छध्वं संवदध्व..............

प्रेम से मिलकर चलो बोलो सभी ज्ञानी बनो।
पूर्वजों की भांति तुम कर्तव्य के मानी बनो॥

समानो मन्त्र: समिति समानो..............

हों विचार समान सबके चित्त मन सब एक हों।
ज्ञान देता हूँ बराबर भोग्य पा सब एक हों।

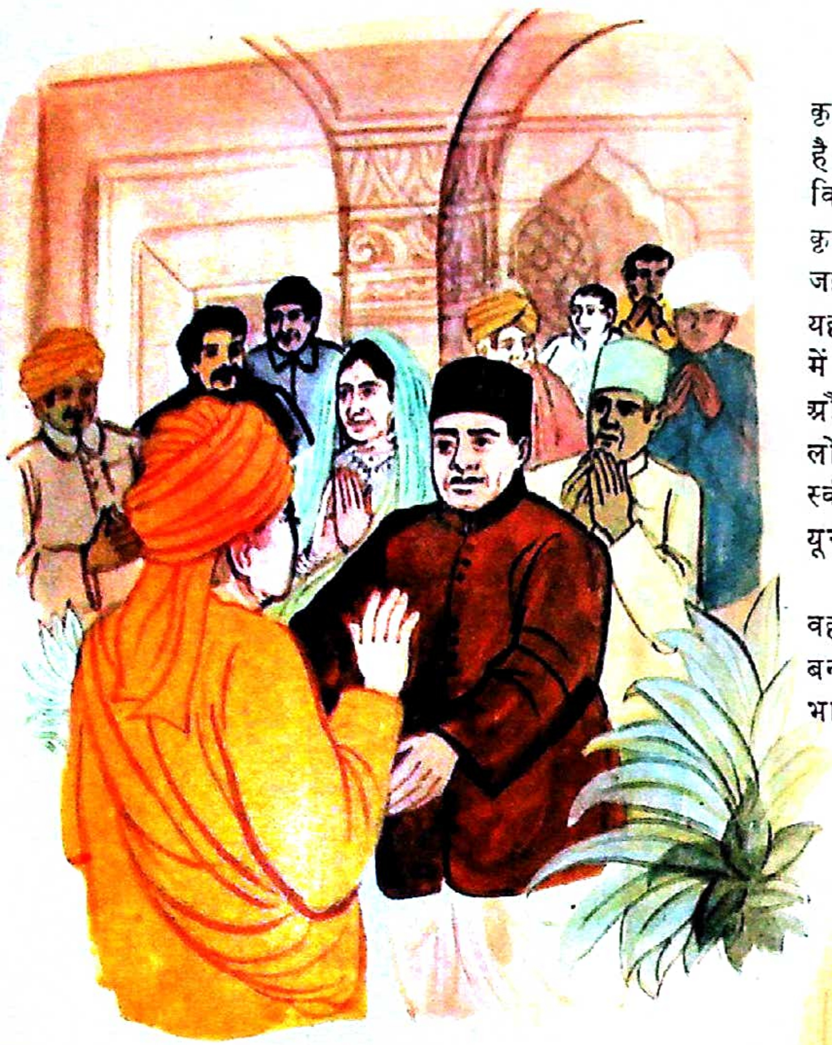
समानी व आकूति:

हों सभी के दिल तथा संकल्प अवरोधी सदा।
मन भरे हों प्रेम से जिससे बढ़े सुख सम्पदा॥

पंजाब में प्रवेश कर स्वामी जी ने सबसे पहले लुधियाना में डेरा डाला। मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी ने तथा अन्य सज्जनों ने खूब प्रेम से स्वामी जी का स्वागत किया और उनके ठहरने आदि की व्यवस्था की।

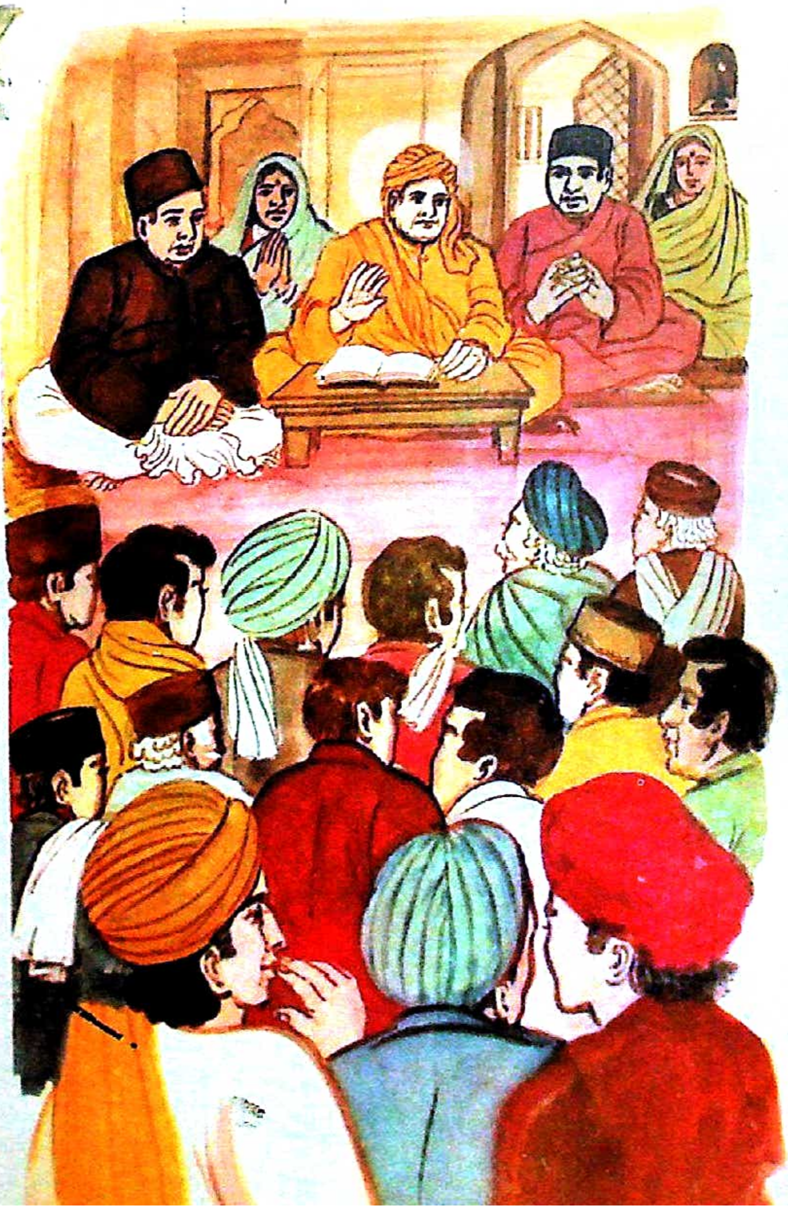
३१ मार्च सन् १८७७ को स्वामी जी लुधियाना पहुंचे थे। उन्होंने पहुंचते ही यह घोषणा कर दी कि मैं सात दिन तक प्रतिदिन व्याख्यान दूंगा, आठवां दिन केवल शंका-समाधान के लिए रहेगा, इसलिए पहले सात दिनों में व्याख्यानों में कोई व्याघात उपस्थित न करें। सात दिन तक व्याख्यान सुनने के पश्चात् जिसके मन में जो शंका उपस्थित हो वह आठवें दिन प्रस्तुत करे, उसका मैं समाधान करूँगा।

इन व्याख्यानों से नगर में खूब आन्दोलन हुआ। हज़ारों लोग व्याख्यान सुनने आए। आठवें दिन किसी अन्य व्यक्ति ने कोई विशेष प्रश्न नहीं किया, परन्तु पादरी वेरी साहब, जुडीशल असिस्टेंट कमिश्नर मि० कारस्टीफन और पंजाब के पुलिस महाधीक्षक ने पुनर्जन्म के सम्बन्ध में अवश्य प्रश्न किये। ये लोग प्रतिदिन स्वामी जी के व्याख्यान भी सुनने आते थे। स्वामी जी ने उनका उचित समाधान किया।



लुधियाना में एक दिन मि० कारस्टीफन ने कहा कि श्री कृष्ण का किशोरावस्था में चाल-चलन खराव वताया जाता है तब फिर उन्हें महात्मा कहना सहज बुद्धि और तर्क के विपरीत है। इसका उत्तर देते हुए स्वामी जी ने कहा कि श्री कृष्ण पर दुराचार का आरोप लगाना गलत और मिथ्या है। जहाँ तक सहज बुद्धि और युक्ति का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यदि सहज बुद्धि यह स्वीकार करने में समर्थ है कि परमात्मा ने कबूतर का रूप धारण किया और वह एक आदमी पर उतरा तब सहज बुद्धि के लिये उन लोगों की बात को जो वे श्री कृष्ण के सम्बन्ध में कहते हैं, स्वीकार करना कठिन न होना चाहिए। इस उत्तर ने दोनों यूरोपियन सज्जनों को चुप कर दिया।

एक दिन स्वामी जी मि० कार स्टीफन से भेंट करने गए। वह इतने प्रसन्न हुए कि स्वामी जी के वेद भाष्य के ग्राहक बन गए और जब स्वामी जी बिदा होने लगे तो उन्होंने वेद भाष्य के प्रकाशनार्थ स्वामी जी को कुछ धन भी दिया।



एक व्याख्यान में मूर्ति पूजा का खंडन करते सुनकर एक ब्राह्मण ने अपने साथी के कान में कहा "व्याख्याता अर्थात् स्वामी जी बुरा आदमी है और उसका मुह देखना पाप है यहाँ से उठ चलो।" यह बात स्वामी जी के कानों में पड़ गयी। उन्होंने कहा मेरे चेहरे में कोई खास विशेषता नहीं है, परन्तु यदि तुम्हें इससे घृणा है तो आओ मेरे पीछे खड़े होकर जो मैं कहता हूं उसे सुनो। यह सुनकर वह ब्राह्मण बड़ा लज्जित हुआ। लुधियाना में स्वामी जी ने रामकृष्ण नामक एक ब्राह्मण की ईसाई बनने से रक्षा की। बपतिस्मा लेने का दिन नियत हो चुका था जब स्वामी जी को यह पता लगा और उसे धर्म का वास्तविक रूप बताया तो उसने ईसाई बनने का इरादा छोड़ दिया।

लाहौर में :—

स्वामी जी लुधियाना से जालन्धर होते हुए लाहौर पहुंचे। रेलवे स्टेशन पर उनका स्वागत करने वालों में पंजाब के भूतपूर्व मीर मुंशी पं० मनफूल, 'कोहेनूर' नामक समाचार-पत्र के स्वामी मुंशी हरसुखराय और ब्रह्मसमाज के कतिपय सदस्य प्रमुख थे। ब्रह्मसमाज वालों का आन्तरिक अभिप्राय यह था कि यदि स्वामी जी ब्रह्म समाज का समर्थन कर देंगे तो पंजाब में उस समाज का बल बहुत बढ़ जाएगा। परन्तु जब उनकी मंशा पूरी नहीं हुई तो उन्होंने स्वामी जी की सहायता से हाथ खींच लिया। इससे स्वामी जी का तो कुछ बिगड़ा नहीं, पर आर्य जनता में ब्रह्मसमाजियों का अपयश अवश्य फैल गया।

लाहौर में दीवान रतनचन्द के बाग में स्वामी जी के व्याख्यान प्रारम्भ हो गए। धीरे-धीरे लाहौर के शिक्षित समाज पर स्वामी जी के युक्तियुक्त विचारों का रंग चढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों स्वामी जी की लोकप्रियता बढ़ती गई, त्यों-त्यों विरोधियों में खलबली मचती गई।

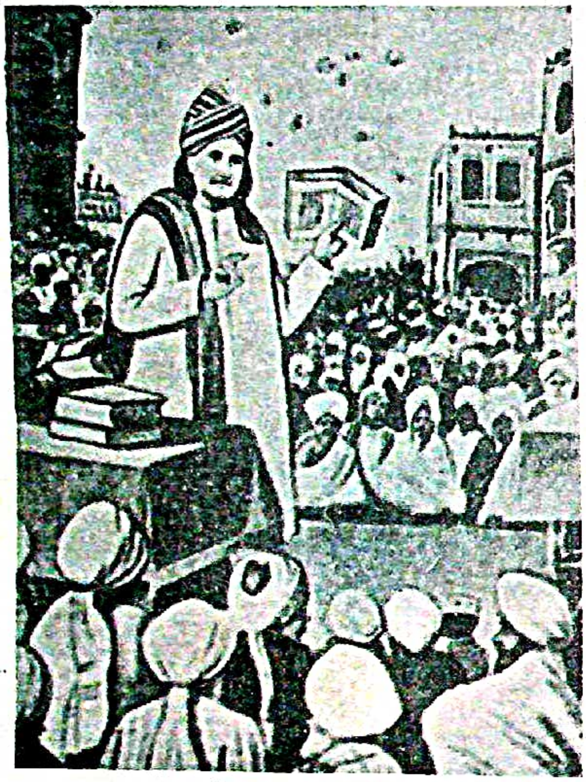




जब विरोधी लोग शिक्षित जनों को स्वामी जी के व्याख्यानों से विमुख करने में सफल नहीं हुए, तब उन्होंने ओछे हथियार अपना कर और दीवान रतनचन्द के कान भर कर स्वामी जी को उसके बाग से अन्यत्र डेरा डालने को विवश किया तब खान बहादुर डा० रहीम खां ने स्वामी जी को अपनी कोठी पर सम्मान-पूर्वक ठहराया। स्वामी जी उस मुसलमान की कोठी पर ही वैदिक धर्म का प्रवचन करने लगे और जनता वहीं उनके व्याख्यान सुनने के लिए आने लगी। इन व्याख्यानों में हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई—सब समान रूप से सम्मिलित होते और स्वामी जी के विचारों से लाभान्वित होते।

ब्रह्मचर्य का बल :—

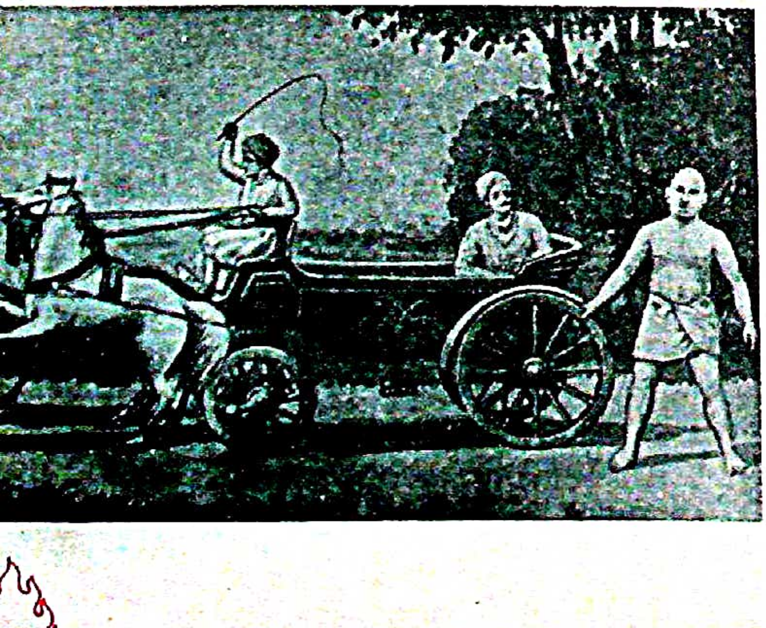
अमृतसर के बाद गुरदासपुर और फ़िरोजपुर में व्याख्यान देते और वहाँ आर्यसमाज की स्थापना करते स्वामी जी जालन्धर पहुंचे। वहाँ के सरदार विक्रमसिंह की कोठी पर ठहरे और वहाँ ३५ व्याख्यान दिए। एक दिन उन्होंने स्वामी जी से कहा कि आप ब्रह्मचर्य से अतुलबल की प्राप्ति की बात कहते हैं, पर इसका सबूत क्या है? स्वामी जी उस समय चुप रहे। सांझ के समय सरदार साहब अपनी बग्गी पर बैठकर बाहर घूमने निकले। गाड़ी में घोड़ों की बढ़िया जोड़ी जुती थी। कोचवान ने चाबुक फटकारा। जो जोड़ी इशारा पाते ही हवा से बात करने लगती, वह केवल पांव उठा कर रह गई। कोचवान झुंझलाया। सरदार साहब आश्चर्य से इधर-उधर देखने लगे। पीछे दृष्टि पड़ी तो देखा कि स्वामी जी गाड़ी को पकड़ कर मुस्करा रहे हैं। सरदार साहब को ब्रह्मचर्य के बल का सबूत मिल गया और स्वामी जी ने हंस कर गाड़ी छोड़ दी।



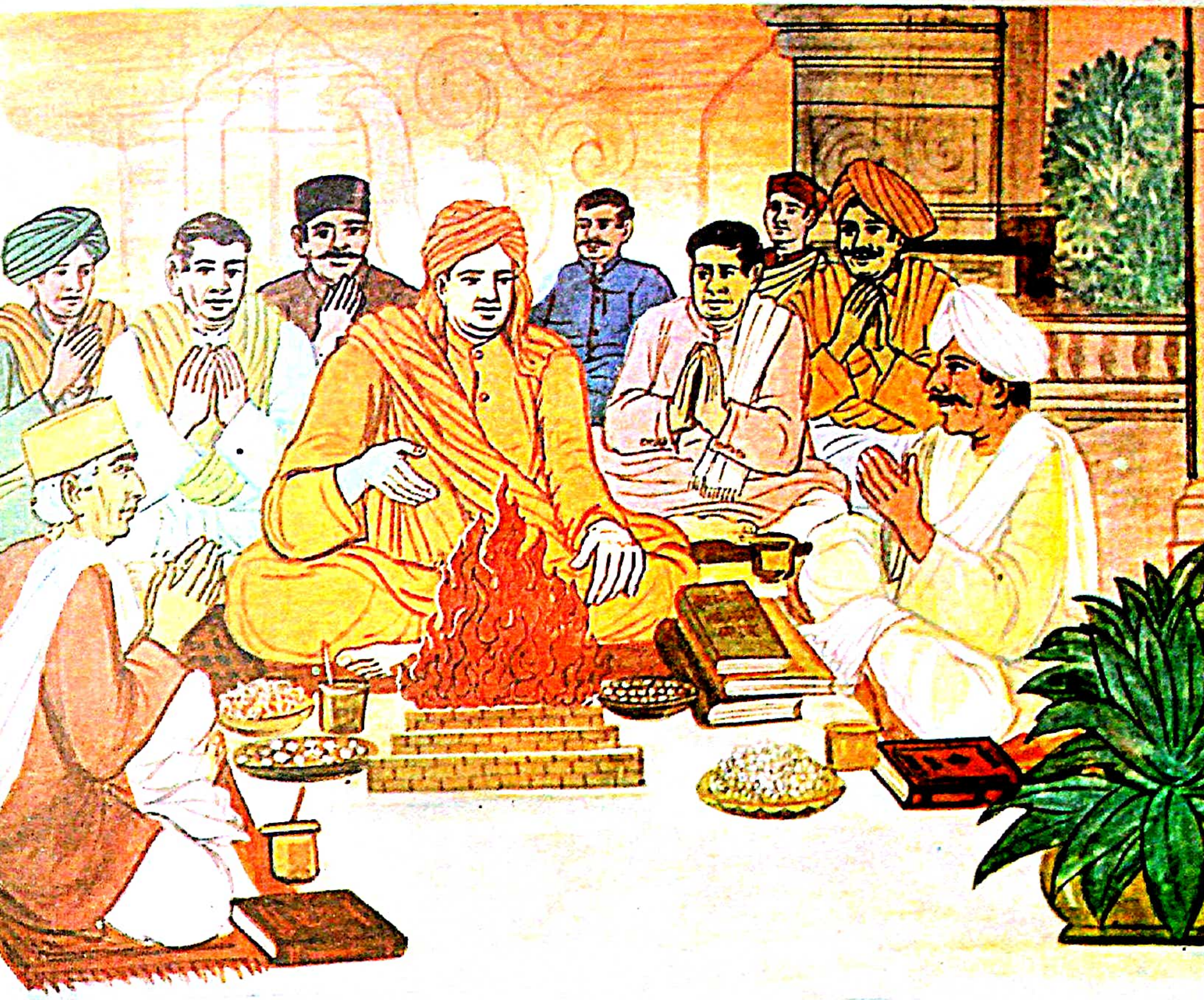
इसी प्रकार की एक घटना काशी में घटित हुई थी। एक शैव ने जो स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ कर रहा था और एक विषधर को ट्रेन्ड किया हुआ था स्वामी जी महाराज पर विषधर को फैंकते समय चिल्ला कर कहा था, "भगवान वासुकी (सर्प देवता) को यह निर्णय करने दो कि हम में से कौन सही है।" स्वामी जी ने विषधर को दूर फैंकते समय उसे उत्तर दिया। "तुम्हारा देवता बहुत पिछड़ गया है। वह मैं हूँ जिसने विवाद का निर्णय कर दिया है।" जन समूह को सम्बोधित करते हुए स्वामी जी ने यह भी कहा—जाओ और सबको कहो कि झूठा देवता कितनी सुगमता से नष्ट हो जाता है।"

अमृतसर में :—

लाहौर से स्वामी जी अमृतसर आए। अंग्रेजी के प्रसिद्ध दैनिक समाचार-पत्र 'ट्रिब्यून' के संस्थापक, प्रसिद्ध रईस सरदार दयालसिंह मजीठिया ने स्वामी जी के निवास के लिए मियां मुहम्मद जान रईस की कोठी किराये पर ले ली। उसी कोठी में स्वामी जी ने व्याख्यानों का तांता लगा दिया। उसी कोठी में १२ अगस्त १८७७ को आर्यसमाज की स्थापना हो गई।



एक दिन एक अध्यापक छोटे-छोटे बालकों को उनकी झोली में ईंटों के रोड़े और कंकर भरवा कर अपने साथ सभास्थल पर ले गया। अध्यापक का संकेत पाते ही बच्चों ने स्वामी जी पर कंकड़ और रोड़े बरसाने शुरू कर दिए। पुलिस कर्मचारियों ने कुछ उपद्रवी बच्चों को पकड लिया। व्याख्यान की समाप्ति पर जब स्वामी जी ने उनसे कंकड़-पत्थर फैंकने का कारण पूछा तो बच्चों ने रोते हुए कहा—"हमें तो लड्डुओं का प्रलोभन देकर ऐसा करने को कहा गया था।" स्वामी जी ने लड्डू मंगवा कर बच्चों को बांटे और उन्हें प्रेम से समझाया कि भविष्य में ऐसे किसी के बहकाने में मत आना, और फिर उन्हें पुलिस की गिरफ्त से छुड़वा दिया।



स्वामी जी को लाहौर में उपदेश देते हुए दो मास से ऊपर हो गए। जब वैदिक धर्म के प्रति जनता की श्रद्धा निरन्तर बढ़ती गई तब स्वयं जनता के ही आग्रह पर स्वामी जी ने बम्बई की तरह लाहौर में भी आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय किया। समस्त शिक्षित समाज ने इस प्रस्ताव का हृदय से स्वागत किया और २४ जून सन् १८७७ को लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। आश्चर्य की बात यह है कि आर्यसमाज की स्थापना उसी मुसलमान की कोठी पर हुई जिसमें स्वामी जी ठहरे हुए थे। डा० रहीम खां की कोठी पर ईश्वर-प्रार्थना और हवन के पश्चात् विधिवत्-आर्यसमाज की स्थापना की घोषणा हो गई। प्रारम्भ में २०० व्यक्ति सदस्य बने, जिनमें उस समय के अनेक प्रतिष्ठित लोग शामिल थे। लाहौर में ही आर्यसमाज के दस नियम निर्धारित हुए। बम्बई में जो नियम निर्धारित हुए थे इनकी संख्या अधिक थी और विस्तार भी अधिक था। पहले वाले नियमों में कुछ बातें ऐसी थीं जिनका सम्बन्ध आर्यसमाज के उद्देश्यों से न हो कर आर्यसमाज के संगठन और सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार से था, इसलिए स्वामी जी ने उनका संशोधन करना उचित समझा।

राय बहादुर लाला मूलराज लाहौर आर्यसमाज के प्रथम प्रधान और श्रीमान् साईंदास प्रथम मंत्री निर्वाचित हुए।

मेरठ में :—

पंजाब में, गुजरांवाला, गुजरात, रावलपिण्डी, मुलतान आदि नगरों में वैदिक धर्म का प्रचार करते और वहाँ आर्यसमाजों की स्थापना करते हुए स्वामी जी रुड़की पहुँचे और रुड़की से मेरठ।

मेरठ में स्वामी जी बाबू दामोदर दास की कोठी में ठहरे और वहीं लोगों को उपदेश देते रहे तथा उनकी शंकाओं का समाधान करते रहे।

मेरठ के बिल्वेश्वर महादेव के प्राचीन मन्दिर में पोराणिकों के प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित हुए और सनातन धर्म रक्षिणी सभा की ओर से स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने पर विचार-विमर्श हुआ। दोनों पक्षों की ओर से काफी लिखा-पढ़ी हुई और शास्त्रार्थ के नियम आदि भी तय हो गए। पर यह शास्त्रार्थ नहीं हो पाया।

स्वामी जी के उपदेशों का इतना प्रभाव हुआ कि अंत में २६ सितम्बर १८७८ को वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गई। आश्चर्य की बात यह हुई कि पौराणिक धर्म के स्तम्भ माने जाने वाले लाला किशन सहाय के पुत्र मुन्नालाल साहू आर्य-समाज के सभासद बन गए और बाद में आजन्म आर्यसमाज के कोषाध्यक्ष पद को सुशोभित करते रहे।









मेरठ में जब आर्यसमाज की स्थापना हुई तब प्रारम्भ में ८१ सभासद बने। इन सभासदों में लाला रामशरणदास जैसे नगर के प्रतिष्ठित रईस, उच्चशिक्षा प्राप्त सज्जन, सेठ-साहूकार, व्यापारी और राजकर्मचारी शामिल थे।

मेरठ छावनी का एक सेठ किसी कारण से स्वामी जी का विरोधी हो गया। स्वामी जी को आहत करने के लिए उसने कुछ गूजरों को तैयार किया। स्वामी जी के भक्तों ने स्वामी जी को सावधान किया। किन्तु स्वामी जी ने उत्तर दिया कि आप मेरी चिन्ता न करें, मेरा रक्षक परमेश्वर है।

मेरठ में स्वामी जी ने श्री छेदीलाल के निवास-स्थान पर हवन करा के उन्हें यज्ञोपवीत दिया। पंडित लोग कहते थे कि वेद पढ़ने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है, किसी अब्राह्मण को जनेऊ धारण करने और वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। पर स्वामी जी ने श्री छेदीलाल का उपनयन संस्कार करके सबको वेद पढ़ने का अधिकार है, यह क्रियात्मक रूप से सिद्ध कर दिया।

सस्कृत का महत्व :—

एक दिन मेरठ में अनेक मुसलमान सज्जन तथा पादरीगण स्वामी जी के साथ ईश्वरीय आदेश पर संवाद करने आए। सबने स्वमतनुसार युक्तियां दीं और अपनी धर्म पुस्तकों को ईश्वर का आदेश बताया। उत्तर देते समय महाराज ने उन मत-वादियों की युक्तियों का भलीभांति खंडन किया। वेद के सम्बन्ध में अकाट्य युक्तियां दीं और कहा, "संस्कृत भाषा ही एक स्वाभाविक और ईश्वर प्रदत्त भाषा है। इसके स्वरों को लीजिए इनकी ध्वनि सब देशों में पाई जाती है। सब प्रचलित भाषाओं में इसी की वर्णमाला नैसर्गिक है। जो भाषा स्वाभाविक ध्वनि के अक्षरों से बनी है वही भाषा स्वाभाविक और आदिम होनी चाहिए। ईश्वरीय आदेश भी उसी भाषा में होना उचित है।"

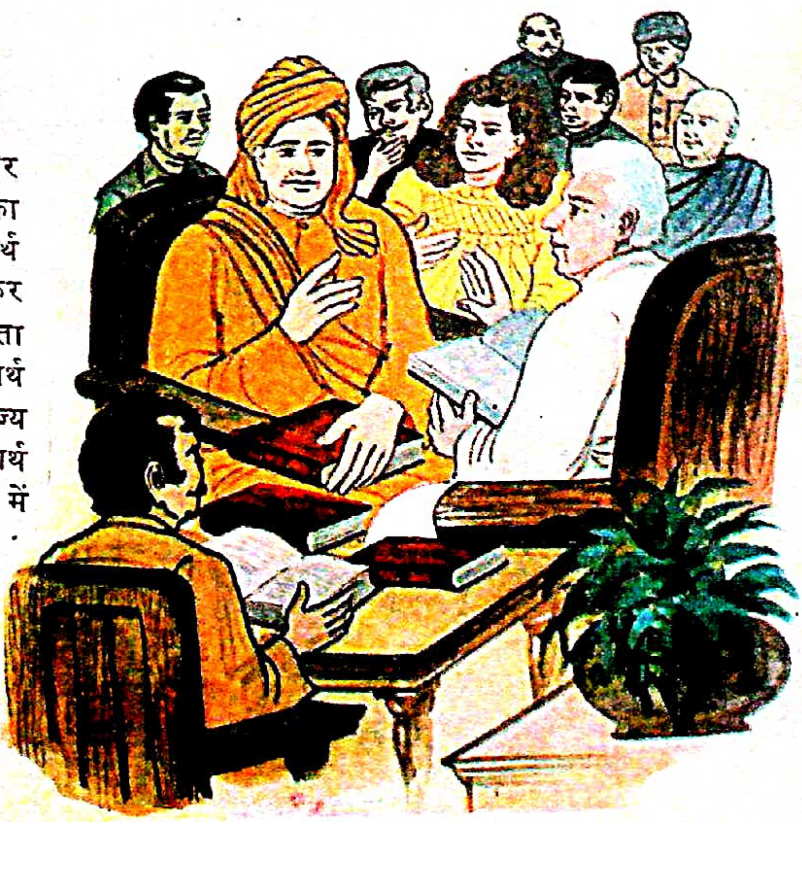


मेरठ से स्वामी जी दिल्ली होते हुए पुष्कर पहुंचे। पुष्कर में प्रतिवर्ष मेला लगता है जिसमें लाखों मनुष्य सम्मिलित होते हैं। यहाँ स्नान का बड़ा माहात्म्य है। स्वामी जी ने भी वहाँ पहुंच कर वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया।

यहाँ कुछ वाममार्गी तांत्रिक साधु रहते थे जो लोगों में अपनी मंत्रसिद्धि के चमत्कारों का ढिंढोरा पीटा करते थे। जब स्वामी जी ने उनके पास जाकर कहा कि तुम अपना मंत्र मुझ पर चलाओ-तो वे कुछ भी चमत्कार न दिखा सके और भक्तों के सामने उनकी बड़ी हेटी हुई।

अजमेर में शास्त्रार्थ :—

१४ नवम्बर सन् १८७८ को स्वामी जी अजमेर पहुंचे और उसी दिन से वहाँ व्याख्यान प्रारम्भ कर दिए। यहाँ उनका पादरी ग्रे और डाक्टर हसबैण्ड से शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ लिखित हुआ था। परन्तु अगले दिन पादरी साहब यह कहकर शास्त्रार्थ से विरत हो गए कि लिखने में समय बहुत लग जाता है, और हमारे पास इतना समय नहीं है। यह शास्त्रार्थ 'थियोसोफिस्ट' नामक पत्र में भी छपा था। किशनगढ़ राज्य के दीवान रायबहादुर श्यामसुन्दर लाल ने, जो स्वयं शास्त्रार्थ में उपस्थित थे, बाद में स्वीकार किया था कि इस शास्त्रार्थ में पादरी साहब की हार हुई थी।





हरिद्वार में :—

यहाँ कुंभ का (१८७६) का मेला लगा हुआ था। स्वामी जी ने हरिद्वार पहुंचते ही एक विज्ञापन प्रसारित किया जिसमें निम्नलिखित बात अंकित थीं :—

१—प्रत्येक व्यक्ति सत्परामर्श देकर, ज्ञान का प्रसार, बुराई का परित्याग, एवं लोकहित सत्यकर्म का अनुष्ठान करके, मित्रवत सहायता देकर, और वेदों का अनुसरण करके सुख प्राप्त कर सकता है।

२—वेदों की व्याख्या द्वारा प्रभु के आदेशों का स्पष्टीकरण किया जायगा जिससे कि लोगों का कल्याण हो और कुंभ के मेले में उनका आना सार्थक हो।

३—प्राचीन काल में वैदिक धर्म पर चलने से लोग बड़े समृद्ध हुए थे उस धर्म की उपेक्षा करने से देश वासियों का हर प्रकार का पतन हुआ है। आर्यसमाज जो कुछ कहता है उस पर अमल करने से पुनः समृद्ध हो सकता है।

४—संस्कृत के ज्ञान, भारतीयों की सच्ची हितकामना और वेद प्रमाण सच्चे शिक्षित और धर्मात्मा लोगों से निर्मित उपदेशक मंडल की स्थापना से यह कार्य सम्पन्न हो सकता है।

५—दुर्दशा, जीवन की गिरावट निर्धनता, परवशता, असहायावस्था परस्पर की फूट आदि की विद्यमानता में लोग यह दावा नहीं कर सकते कि वे एक महान् देश की महती वपौती के उत्तराधिकारी हैं।

६—जनता को स्थिति का सामना करना होगा। उसे अपनी महत्वाकांक्षाओं में जीवन के ध्येय और ढंग में सुधार करके शीघ्र ही सक्रिय होना होगा।

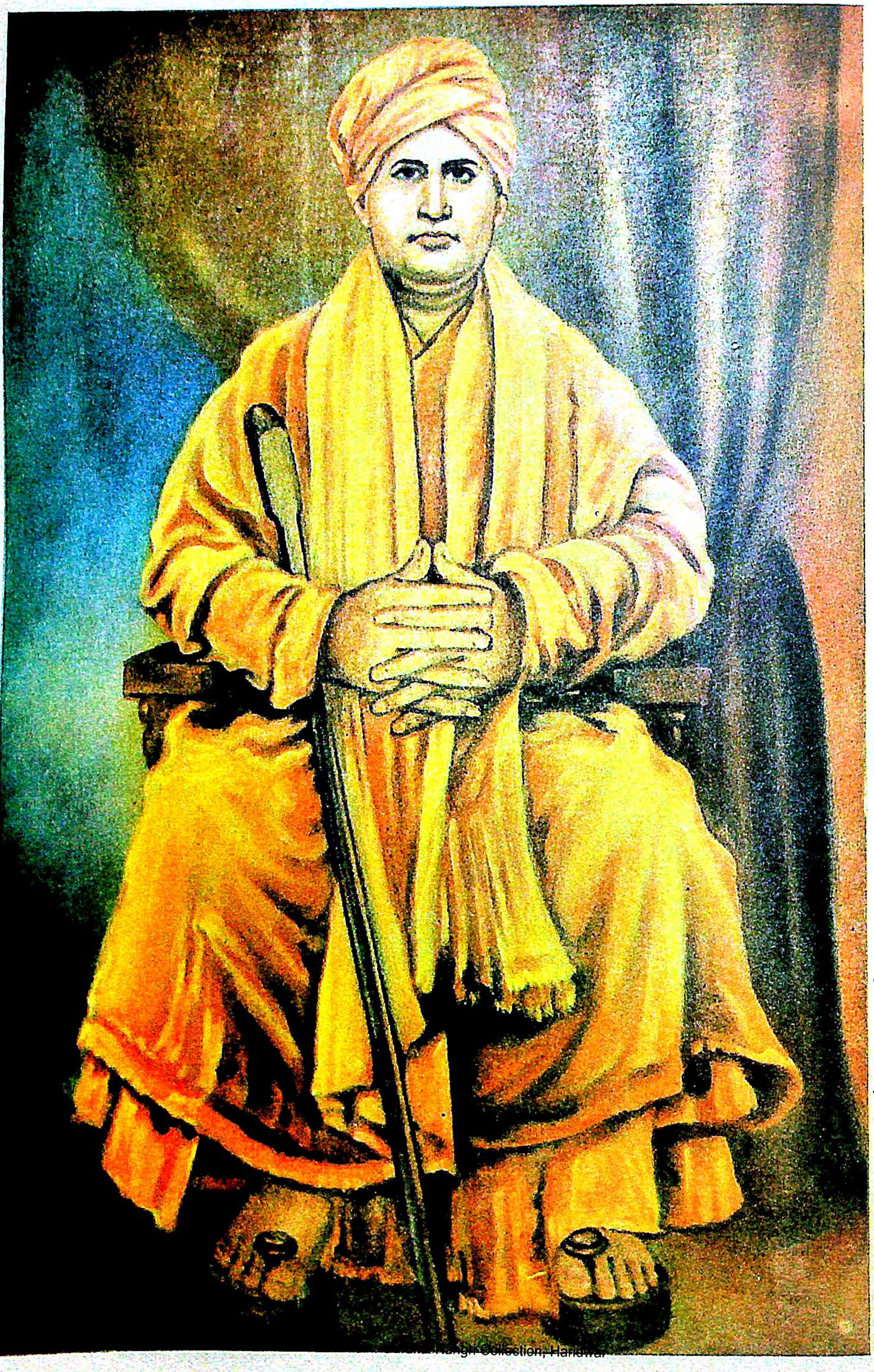
७—विवेक से काम लेना, निष्पक्ष स्वार्थ रहित, ज्ञानवान् और सत्यपरायण होना, मन, वचन और कर्म से धर्मपरायण एवं वेदों के प्रभु में मन लगाना होगा।

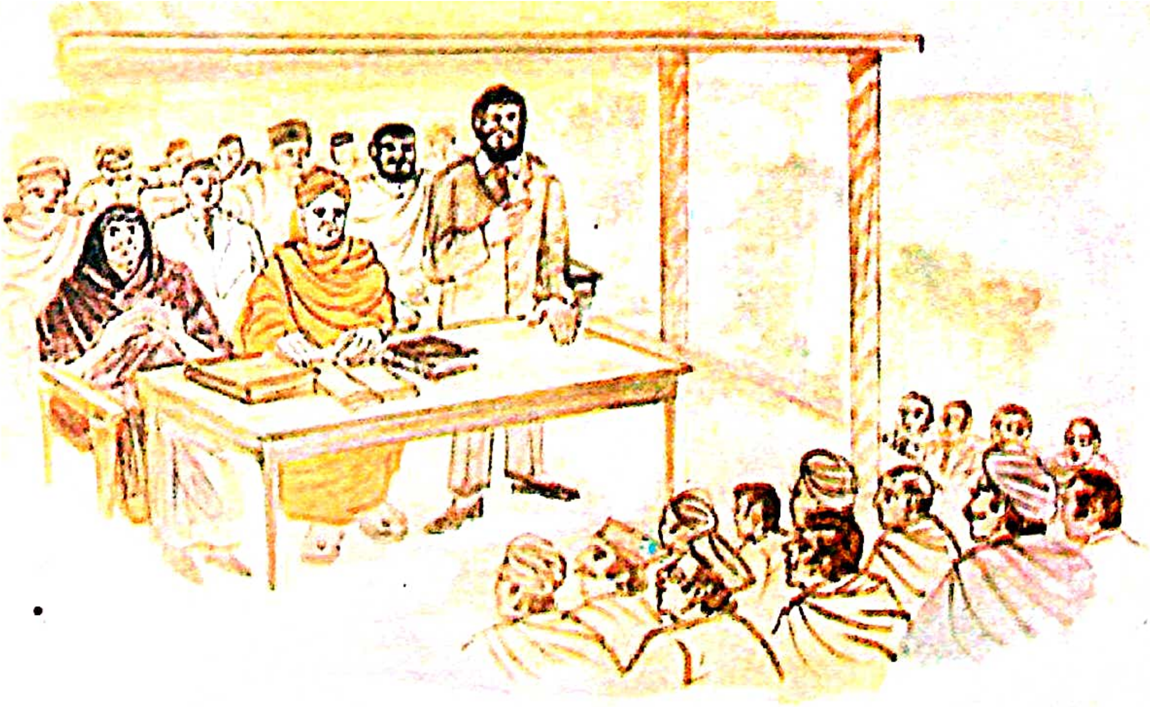
स्वामी जी नसीराबाद, जयपुर, रिवाड़ी, दिल्ली, सहारनपुर और ज्वालापुर होते हुए हरिद्वार पहुंचे।

उक्त सभी स्थानों पर स्वामी जी निरंतर वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे। हरिद्वार में भी उनके व्याख्यानों में भीड़ का ठिकाना नहीं था। इन दिनों वे प्रातः सात से ग्यारह बजे तक उपस्थित लोगों का शंका समाधान करते। उसके बाद भोजन कर कुछ देर विश्राम करते और एक बजे फिर व्याख्यान के लिए सभा मंच पर आ विराजते व्याख्यान इतने मनोरंजक होते कि लोग दत्तचित्त होकर सुनते रहते। सभा ५ बजे विसर्जित होती। उसके बाद रात को फिर ७ से६ बजे तक धर्मालाप चलता रहता।

इस समय उत्तर भारत में स्वामी जी की अपूर्व स्थिति थी। वे आर्य-हिन्दू जाति के एकमात्र नेता, सुधारक और रक्षक माने जाते थे। गोरक्षा के लिए उनसे बढ़कर ऊँची आवाज उठाने वाला कोई नहीं था। उनके सिंहनाद से विधर्मी थर-थर कांपते थे। पौराणिक हिन्दू स्वयं इतने अंधविश्वासों में उलझे हुए थे कि विधर्मियों को उत्तर देने की सोच ही नहीं सकते थे। स्वामी जी ने जहाँ पुराणों की आलोचना की वहाँ इँजील और कुरान की भी बुद्धि-विरुद्ध बातों का खण्डन किया। इससे जहाँ आर्यजाति का हृदय फूल उठा, वहाँ विधर्मी इस अप्रत्याशित आक्रमण से झुंझला उठे।

आर्यजाति के उत्साह का ही परिणाम था कि बम्बई, उत्तर प्रदेश और पंजाब के विभिन्न स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना होती चली गई और जनता में आत्मविश्वास की भावना बढ़ गई। स्वामी जी का यह समय बहुत व्यस्तता में बीता।





थियोसोफिस्टों से सम्बन्ध :—

कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्सकी स्वामी जी से मिलने को बहुत उत्सुक थे। उनका स्वामी जी से पत्र व्यवहार भी था। अमेरिका से चलकर वे बम्बई पहुंचे और वहाँ स्वामी जी के आगमन की प्रतीक्षा करते रहे। इधर स्वामी जी उत्तर भारत में प्रचार कार्य में इतने व्यस्त थे कि उनका शीघ्र बम्बई जाना नहीं हो सका। तब कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्सकी स्वयं स्वामी जी से मिलने सहारनपुर पहुंचे। स्वामी जी हरिद्वार से सहारनपुर आ गए थे।

३ मई १८७९ को स्वामी जी उक्त दोनों विदेशी भक्तों के साथ मेरठ पहुंचे। मेरठ में स्वामी जी के जहाँ-जहाँ व्याख्यान होते, कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्सकी भी वहाँ उपस्थित रहते। कभी-कभी इन दोनों के व्याख्यान भी होते।



जब ये महानुभाव स्वामी जी से मिलते, तो अधिकतर योग के विषय में वार्तालाप करते।

उन्होंने अपने आचार-विचार से यह कभी प्रकट नहीं होने दिया कि उन्हें ईश्वर या वेद में श्रद्धा नहीं है। वे वचन और कर्म से अपने आपको वैदिक धर्मी कहते और जनता में भी अपने आपको आर्य ही प्रकट करते। उनका खान-पान और व्यवहार भी आर्यों जैसा ही रहता। वे सबसे 'नमस्ते' करके अभिवादन करते।





मेरठ में कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्सकी ने जहाँ-कहीं सार्वजनिक रूप से अपने विचार प्रकट किए वहाँ वैदिक धर्म का महत्व प्रतिपादित किया और ईसाइयत का खण्डन किया। स्वामी जी ने उनके आचार-व्यवहार को देखकर और अमेरिका से भेजे श्रद्धाभक्ति से भरे इनके पत्रों से प्रभावित होकर उन पर विश्वास कर लिया और अपने अनुयायिओं से भी कहा कि ये दोनों वेद-विरोधी मतों को पाखण्ड का रूप समझते हैं और वेद को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं।

इन दोनों व्यक्तियों ने अपने आपको आर्य कहने के अलावा भारत को अपनी मातृभूमि कहा, उसके प्रति अगाध भक्ति प्रकट की। स्वामी जी को बारम्बार अपना सर्वोच्च धर्मगुरु स्वीकार किया और थियोसोफिकल सौसायटी को आर्यसमाज की शाखा प्रतिपादित किया।

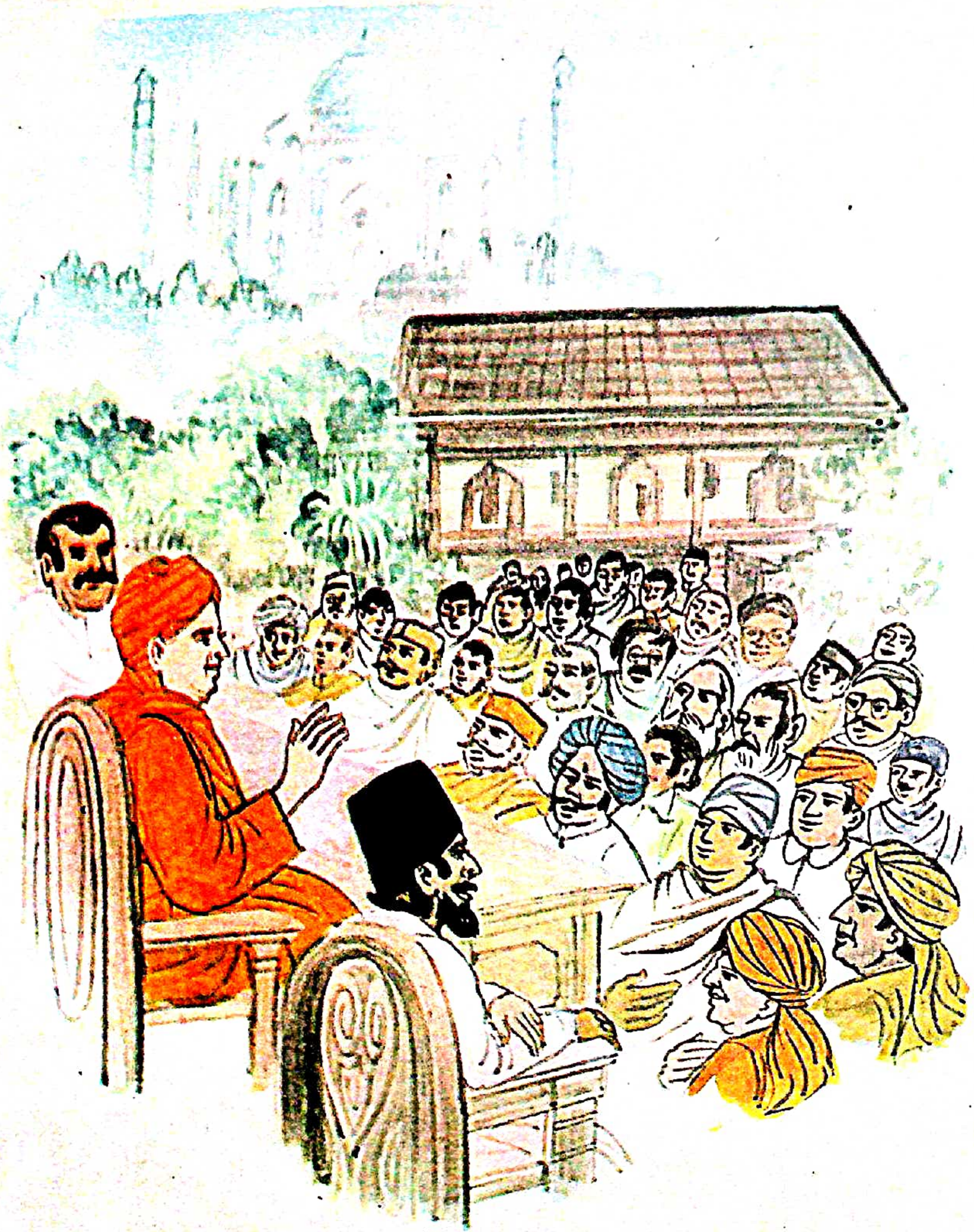
स्वामी जी का हृदय राग-द्वेष और छल-कपट से रहित था इसलिए वे इनके विनय-भाव से प्रभावित हो गए और उनको शरणागत् का मान दिया। परन्तु बाद में पता लगा कि वे तो भूत-प्रेत-पिशाच आदि की कथाओं के द्वारा तथा हिमालय वासी महात्माओं के चमत्कारों के नाम से जनता को बरगलाते हैं और अपनी पुस्तकों तथा मासिक पत्रों में उसी प्रकार की बातें प्रकाशित करते हैं। इसके अलावा वेद और ईश्वर के सम्बन्ध में भी उनके विचार सर्वथा विपरीत हैं।

वे मेरठ के बाद फिर अन्य स्थानों पर भी स्वामी जी से मिले, पर ज्यों-ज्यों निकटता बढ़ती गई त्यों-त्यों उनके चेहरे से नकाब उतरती गई और यह स्पष्ट होता गया कि आर्यसमाज का नाम लेकर वे देश और विदेश में शिक्षित-वर्ग को प्रभावित करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। एक तरह से भारतीय धर्म और संस्कृति में घुसपैठ करके उसका मनमाना विकृत रूप संसार के सामने उजागर करने का यह एक विदेशी षड्यंत्र था, जिसे स्वामी जी ने यथा-समय भांप लिया। इन दोनों व्यक्तियों का पूर्व जीवनवृत-भी दोषपूर्ण था। उसके बाद कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्स्की से तथा थियोसोफिकल सोसायटी से स्वामी जी ने सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

सन् १८७९ के दिसम्बर मास में स्वामी जी पुनः काशी गये और एक विज्ञापन प्रचारित किया जिसमें संक्षेप से अपने मन्तव्यों की चर्चा करते हुए उन्होंने सत्य और असत्य का निर्णय करने के लिए काशी के पण्डितों का शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था। इस विज्ञापन के वितरण से नगर में काफी हल-चल मची। अनेक प्रभावशाली लोग इसी बात से आंतकित हो उठे कि पौराणिकता और मूर्तिपूजा के गढ़ काशी में आकर कोई इन्हीं चीज़ों का खण्डन करे। उन्हीं दिनों मुसलमानों का मुहर्रम भी था। जब स्वामी जी निर्धारित स्थल पर व्याख्यान देने पहुंचे तब मजिस्ट्रेट ने एक घुड़सवार सार्जेण्ट को भेजकर स्वामी जी के व्याख्यान देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

अगले दिन स्वामी जी ने मजिस्ट्रेट को पत्र लिखकर प्रतिबन्ध का कारण पूछा। जब कोई उत्तर नहीं आया तब स्वामी जी ने लेफ्टिनेंट गवर्नर और चीफ़ कमिश्नर को पत्र लिखा कि जब ब्रिटिश राज्य में हरेक को अपने धार्मिक विचारों के प्रचार की छूट है, तब मेरे धार्मिक व्याख्यान पर प्रतिबन्ध क्यों लगाया गया। इस पर सेक्रेटरी का उत्तर आया कि नगर में मुहर्रम का त्यौहार होने के कारण उत्तेजना का वातावरण देखते हुए मजिस्ट्रेट द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध को सरकार उचित समझती है। परन्तु शीघ्र ही मजिस्ट्रेट ने अपनी भूल पर पश्चाताप करके स्वामी जी से क्षमा मांग ली। देश के बड़े-बड़े अखबारों ने इस आज्ञा का प्रतिवाद किया था।





आगरा में :—

काशी के बाद लखनऊ, कानपुर और मैनपुरी आदि स्थानों पर होते हुए और वहाँ आर्यसमाज की स्थापना करते हुए स्वामी जी आगरा पहुंचे। पंडित लक्ष्मणप्रसाद महोपाध्याय आदि सज्जनों ने स्वामी जी को बार-बार आगरा आने के लिए आमंत्रित किया था।

मुफीदे-आम स्कूल पीपलमण्डी में व्याख्यानों का आयोजन किया गया। यहाँ स्वामी जी ने २८ नवम्बर सन् १८८० से २५ व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों में किन-किन अपूर्व रहस्यों का उद्घाटन हुआ होगा और क्या अमूल्य उपदेश दिए गए होंगे। पूना के व्याख्यानों को जिस प्रकार महादेव गोबिन्द रानाडे ने लेखबद्ध करके सुरक्षित कर दिया था, वैसा आगरा में किसी ने नहीं किया। पर मुफीदे-आम स्कूल में व्याख्यान होने से इतना तो स्पष्ट ही है कि यहाँ मुसलमानों ने भी स्वामीजी के व्याख्यानों में खूब रूचि ली।



आगरा में रोमन कैथोलिक ईसाइयों का बहुत बड़ा गिरज़ा घर है—सेण्टपीटर्स चर्च। वहाँ के विशप पादरी ने अपना संदेशवाहक भेजकर स्वामीजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। अगले दिन अनेक प्रतिष्ठित ईसाइयों के साथ वे स्वामी जी से मिलने पहुंचे। स्वामी जी ने विशप महोदय से कहा कि यदि आस्तिक धर्मों को मानने वाले सब बुद्धिमान् नेता केवल उन बातों का प्रचार करें जिन्हें सब मानते हैं, तो एकता स्थापित हो सकती है। वेद, ईश्वर और ईसामसीह तथा रोम के धर्माध्यक्ष पोप के सम्बन्ध में भी वार्तालाप हुआ।

अगले दिन बिशप ने स्वामी जी को अपना भारत-प्रसिद्ध गिरजा देखने के लिए बुलाया। जब स्वामी जी वहाँ पहुंचे तो गिरजाघर के सब कर्मचारी तथा अन्य धर्माधिकारी उनका स्वागत करने के लिए द्वार पर उपस्थित हो गए।

गिर्जाघर देखने जाने से पूर्व स्वामी जी महाराज ने विशप महोदय से देर तक बातचीत की थी। स्वामी जी ने उन्हें कहा था, आओ पहले सब आपस में मिलकर एक धर्म स्थिर कर लें और नास्तिक वाद को निर्मूल किया जाय। विशप महोदय ने एकता के मार्ग में अनेक कठिनाइयां दिखाईं। उनके उत्तर में स्वामी जी ने कहा कि यदि वेद को सभी सज्जन स्वीकार कर ले तो सब आपत्तियां तुरन्त दूर हो सकती है।





आगरे की स्वामी जी महाराज की यह अन्तिम यात्रा थी।

आगरा राधा स्वामी समुदाय का हैड क्वार्टर है। एक दिन उस समुदाय के कतिपय अशिक्षित साधु स्वामी जी के पास आए और कहा—"गुरू की सहायता के बिना कोई भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।" स्वामी जी ने उत्तर में कहा—"एक मात्र सत्कर्मों से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।" एक साधु ने जब यह कहा कि राधा स्वामी मतानुयायी साधारण हिंदुओं से ऊँचे हैं क्योंकि वे मूर्ति पूजक हैं तब उत्तर में स्वामी जी ने कहा—"यह सत्य नहीं है, हिन्दू तो केवल राम और कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानते हैं परन्तु राधा स्वामी मत वाले अपने गुरु को ईश्वर से भी बड़ा मानते हैं।"

मथुरा के सुप्रसिद्ध सेठ लक्ष्मण दास का गुमाश्ता नारायण दास श्री गिरधारी लाल जी के पास गया और कहा स्वामी जी को अपने घर से निकाल बाहर करो क्योंकि दयानन्द सेठ के धर्म का खंडन करता है। गुमाशता ने सोचा था कि गिरधारी लाल जी सेठ लक्ष्मण दास के प्रतिष्ठित आसामी हैं अतः वह सेठ को खुश करेंगे। इस पर श्री गिरधारी लाल ने कहा—"मैं ऐसी कमीनी हरकत न करूंगा।"

इस पर नारायण दास कलकत्ता गया और २२-१-१८८१ के दिन वहाँ एक बड़ी मीटिंग की जिसका नाम आर्य मार्ग-दर्शिनी रखा गया था और इसमें नदिया, भाटपाड़ा और काशी के पंडितों को बुलाया गया था। कहा जाता है इस मीटिंग पर आए पंडितों की दक्षिणा आदि पर १० हज़ार रुपए खर्च किए गए थे। सेठ लक्ष्मण दास ने अपने इस गुमाश्ते की इस कार्यवाही को पसन्द नहीं किया और उसे नौकरी से हटना पड़ा था।

आगरे में दूसरी व्याख्यान-माला का प्रवाह २३ जनवरी १८८१ से चला।

एक दिन नगर कोतवाल मौलवी तुफ़ैल अहमद स्वामी जी से पुनर्जन्म के सम्बन्ध में वार्तालाप करने आए और सन्तुष्ट होकर गए।

सेण्टजान्स कालेज के अनेक प्राध्यापक तथा राधास्वामी मत के अनुयायी अनेक सद्गृहस्थ भी स्वामी जी से विचार-विमर्श करने आते रहे। अनेक ईसाई और मुसलमान प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आकर शंका-समाधान करते रहे।

अन्ततः जनता के आग्रह पर आगरा में भी आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

एक दिन महाराज एक भेडिये की मांद में पले हुए मनुष्य को देखने गये उसे बचपन में ही एक भेड़िया उठाकर ले गया था। फिर वह किसी प्रकार ईसाईयों के हाथ लग गया। महाराज ने जब उसको देखा तो उस समय वह एक कुर्ता धारण किये हुए था और थोड़े-थोड़े मानुषी व्यवहार भी सीख चुका था। स्वामी जी को अभिवादन करते हुए उसने पैसा मांगा। इस पर स्वामी जी ने उससे कहा कि इतने दिन पशुओं में वास करने पर भी तुमने पैसों का प्रेम न छोड़ा।" महाराज के संकेत के उनके साथी भक्त ने दो चार आने उसे दे दिये।

महर्षि का उपकार :—

ऋषियों के मर्म को वेद के धर्म को था भुलाया।
महर्षि ने हमें आ जगाया॥
वेद ज्योति जगाई ऋषि ने, ज्ञान गंगा वहाई ऋषि ने।
वेद का भाष्य कर, सत्य का अर्थ करके दिखाया॥
महर्षि ने हमें आ जगाया
थी छुआछूत की यहाँ बीमारी, गो विधवा करती थी हाहाकारी
छुआछूत की, जन्म जात को था मिटाया।
महर्षि ने हमें आ जगाया॥

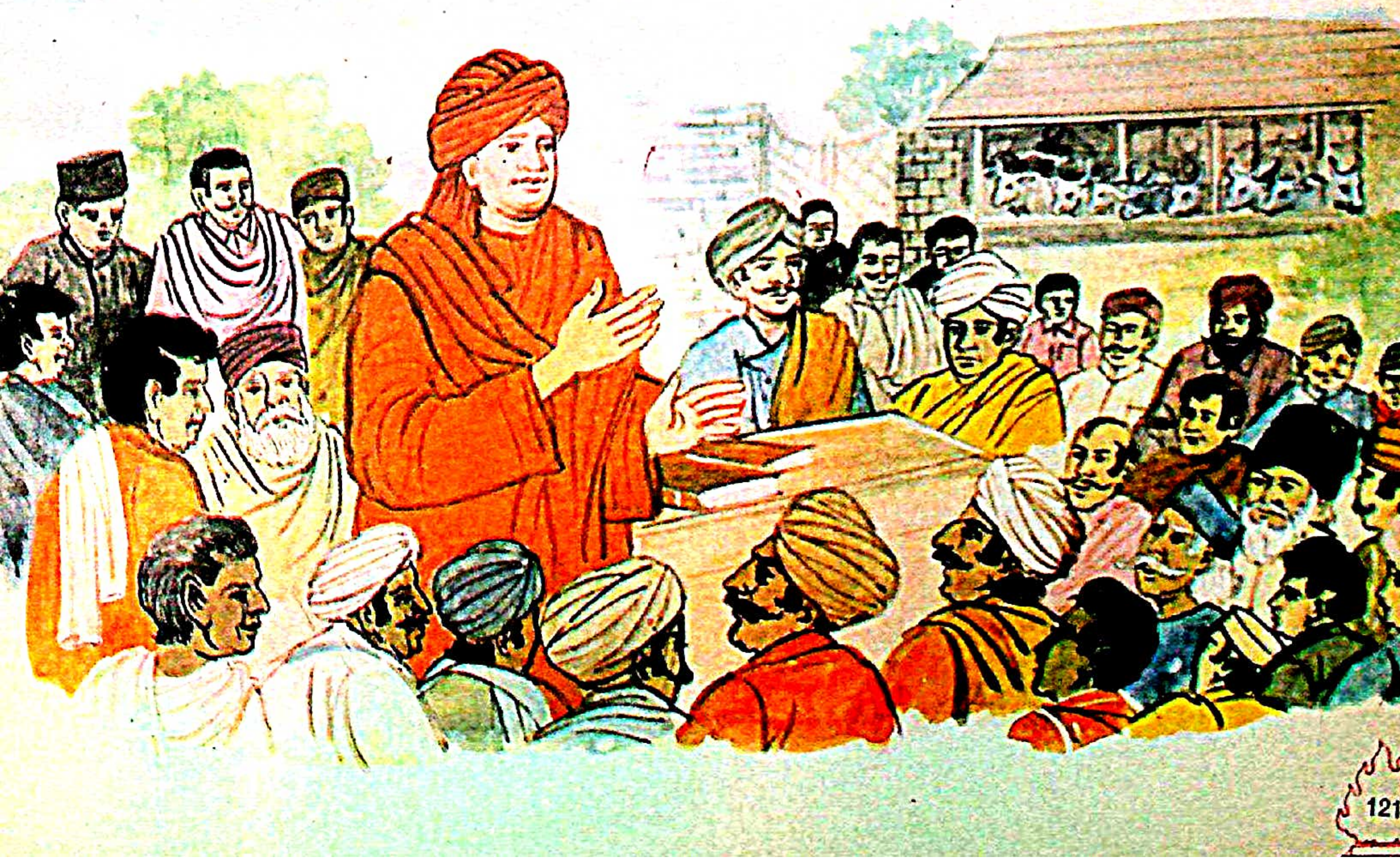
गोकरूणानिधि :—

आगरे में ही स्वामी जी ने 'गोकरूणानिधि' नामक अपनी अमूल्य पुस्तक लिखी जिसमें गोधन के महत्व पर युक्तियुक्त ढंग से प्रकाश डाला गया था।

एक दिन मुंशी गिरधारीलाल के निवास स्थान पर गोरक्षा के सम्बन्ध में स्वामी जी का व्याख्यान हुआ। जब स्वामी जी ने गोहत्या की करुण कथा कही तो श्रोता द्रवित हो उठे। स्वामी जी ने अनेक प्रकार से गाय की उपयोगिता का विवेचन किया और गोधन को भारत जैसे कृषिप्रधान देश की आर्थिक समृद्धि का मेरूदण्ड सिद्ध किया। व्याख्यान इतना प्रभावशाली था कि उसकी समाप्ति पर तुरन्त गोकृष्यादि-रक्षिणी सभा की स्थापना हो गयी। सभा के लिए उसी समय चन्दा हुआ। कई मुसलमान बन्धुओं ने भी इसके लिए सहर्ष चन्दा दिया।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार ने जिस प्रकार गोधन की रक्षा पर तथा कृषि-विकास कार्यों पर बल देना प्रारम्भ किया है, उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी जी कितने दूरदर्शी थे और राष्ट्रहित का कोई पहलू उनकी दिव्य दृष्टि से ओझल नहीं था।

स्वामी जी गोरक्षा को आर्यावर्त की उन्नति का मूल मानते थे। वे अनुभव करते थे कि गोहत्या से देश की भयंकर हानि हो रही है। घी-दूध के अभाव में भारत-सन्तान दुर्बल हो रही है। इसीलिए उन्होंने अनेक स्थानों पर गोकृष्यादि रक्षिणी सभाऐं स्थापित कीं। राजपूताने के पोलिटिकल एजेण्ट से और पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफ्टिनेंट गवर्नर से मिलकर गोहत्या बन्द करने का अनुरोध किया। अन्त में उन्होंने यह भी विचार किया कि तीन करोड़ भारतवासियों के हस्ताक्षर कराके एक मेमोरेण्डम महारानी विक्टोरिया के पास भेजा जावे। इस मेमोरेण्डम पर हस्ताक्षर करवाने का प्रबल अभियान भी उस समय चला।



फिर बम्बई :—

आगरा से जयपुर, अजमेर, ब्यावर और चित्तौड़ आदि स्थानों पर होते हुए स्वामी जी फिर बम्बई पहुंचे।

इस बार स्वामी जी ने अधिकतर व्याख्यान गोरक्षा के सम्बन्ध में ही दिये जिससे अन्य सम्प्रदायों के ऐसे लोग भी, जो पहले अपने मतों का खण्डन सुनकर स्वामी जी का विरोध करने लगते थे, अब उनके प्रशंसक बन गए। बहुतों ने स्वयं स्वामी जी के पास आकर अपने पहले के बर्ताव के लिए क्षमा भी मांगी।



गोरक्षा की अपील :—

हे धार्मिक सज्जन लोगो ! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते ? हाय !! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिए ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम हमको देख के राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं—कि देखो ! हमको बिना अपराध बुरे हाल से मारते हैं, और हम रक्षा करने तथा मारने वालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ के लिए उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाने नहीं चाहते। देखो, हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिए है, और हम इसीलिये पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें। हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते, आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते, नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता, तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारने वालों को न्याय-व्यवस्था से फांसी पर न चढ़वा देते। हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नहीं होता। और जो कोई होता है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं।

अस्तु, वे स्वार्थ के लिए द्वेष करो तो करो, क्योंकि 'स्वार्थी दोषं न पश्यति' जो स्वार्थ साधने में तत्पर है, वह अपने दोषों पर ध्यान नहीं देता, किन्तु दूसरों को हानि हो तो हो मुझको सुख होना चाहिए परन्तु जो उपकारी हैं वे इनके बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें जैसा कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म करते आये हैं। वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है।

धन्य है आर्यवर्त्त देशवासी आर्य लोगों को कि जिन्होंने ईश्वर के सृष्टिक्रम के अनुसार परोपकार ही में अपना तन, मन, धन लगाया और लगाते हैं। इसीलिए आर्य्यावर्त्तीय, राजा, महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथ्वी में जंगल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर औषधियों का सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों, जिनके खाने-पीने से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि सद्गुण बढ़ें। और वृक्षों के अधिक होने से वर्षा, जल और वायु में आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है पशु और पक्षी आदि के अधिक होने से खाद भी अधिक होता है। परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना, पशुओं को मार और मरवा खाना और विष्टा आदि का खात खेतों में डाल अथवा डलवा कर रोगों की वृद्धि करके संसार का अहित करना स्वप्रयोजन साधना और पर-प्रयोजन पर ध्यान न देना, इत्यादि काम उल्टे हैं।

आर्यसमाज के ट्रस्टियों की बैठक बुलाकर स्वामी जी ने पुराने नियमों में भी परिवर्तन किया। आर्यसमाज लाहौर की स्थापना के समय जो दस नियम तथा अन्य उपनियम निर्धारित किये गए थे, वे अब समस्त आर्य समाजों के लिए मान लिए गए।





सेठ सेवकलाल कर्सनदास, बम्बई



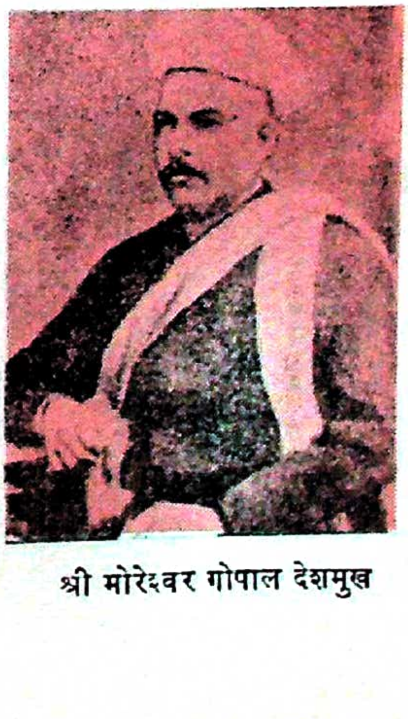
श्री लीलाधर हरि

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा
संस्थापित बम्बई आर्यसमाज के
कतिपय सदस्य

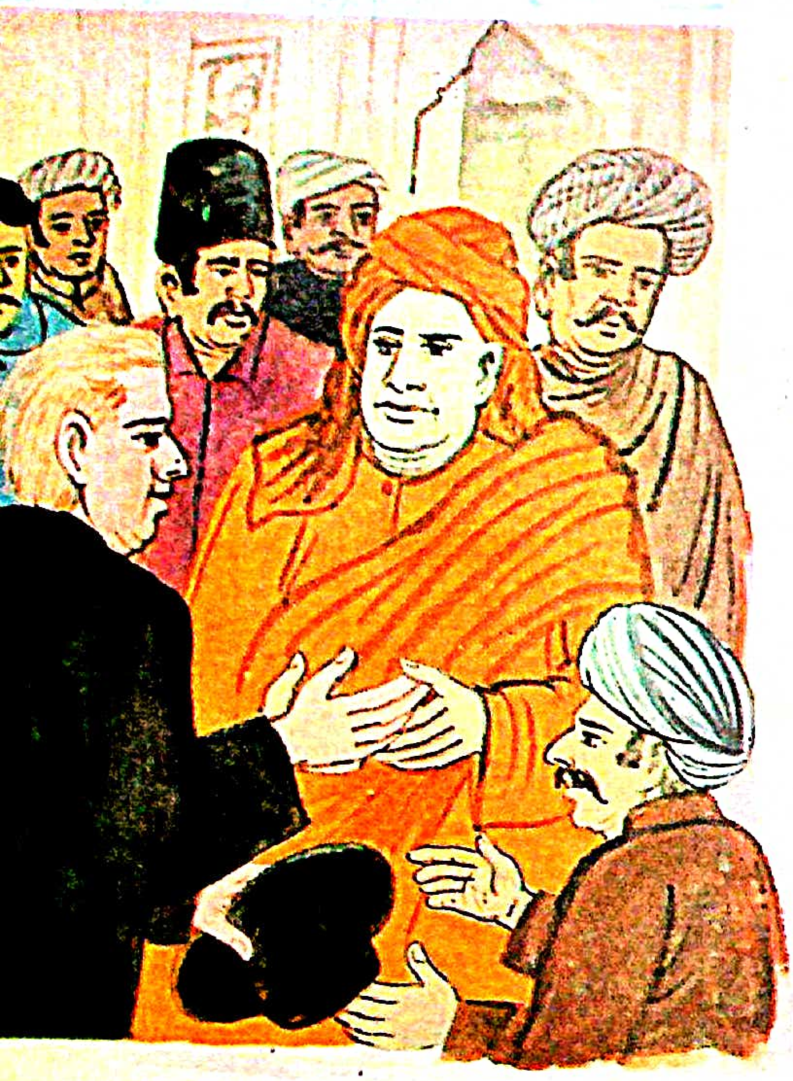
चैत्रसुदि १ सम्वत १९३२ विक्रमी



श्री सुन्दरदास धर्मसिह



श्री मोरेश्वर गोपाल देशमुख



बम्बई में स्वामी जी ने विभिन्न स्थानों पर भाषण दिए। व्याख्यानों में ऑक्सफोर्ड में संस्कृत के प्रोफेसर मोनियर विलियम्स और बम्बई के कलक्टर मि० शेफर्ड भी आए।

मोनियर विलियम्स स्वामी जी की व्याख्यान-शैली और विविध विद्याओं में उनकी व्युत्पन्नता से बहुत प्रभावित हुए। एक दिन वे स्वामी जी से मिलने आर्यसमाज में आए तो स्वामी जी ने अन्य आर्य पुरुषों के साथ उनका स्वागत किया। आर्य-समाज के नियम तथा आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित पुस्तकें उन्हें भेंट की गईं जो उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण कीं।

इसके बाद वे अवसर स्वामी जी से मिलने आते और उनसे संस्कृत में वार्तालाप करते। एक बार स्वामी जी की अध्यक्षता में हुई एक सभा में भी वे उपस्थित हुए जिससे उन्हें आर्यसमाज की कार्यपद्धति का भी परिचय हो गया।

जैसाकि अन्यत्र कहा गया है ये वही मोनियर विलियम्स थे जिन्होंने सर्वप्रसिद्ध संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश तैयार किया था। बाद में इन्हीं मोनियर विलियम्स ने स्वामी जी के शिष्य श्याम जी कृष्ण वर्मा को आक्सफोड में संस्कृत का प्राध्यापक बनने के लिए बुलाया था। स्वामी जी की अनुमति से ही श्याम जी इंगलैण्ड गए थे। स्वामी जी की उत्कट इच्छा थी कि भारतीय युवक पश्चिमी देशों की वैज्ञानिक उन्नति का ज्ञान प्राप्त करें। श्याम जी ने वहाँ जाकर भारत की स्वतंत्रता के लिए जो कार्य किया वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जाएगा।





बम्बई में इस बार स्वामी जी ने अपना अधिकांश समय वेदभाष्य में लगाया। प्रातः आठ बजे से सांय पांच बजे तक वे किसी से न मिलते और उस समय वेदभाष्य लिखाते।

इस बार कुछ जैनियों ने शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। स्वामी जी सहमत हो गए। पर बाद में कोई जैन विद्वान् शास्त्रार्थ के लिए नहीं आया।

शाम को प्रायः प्रतिदिन ही स्वामी जी किसी न किसी स्थान पर व्याख्यान देने के लिए जाते थे।

बम्बई आने से पहले जब स्वामी जी अजमेर में थे, तब अनेक ग्रन्थों के रचयिता, शहीदे-आजम, पण्डित लेखराम आर्य मुसाफ़िर स्वामी जी के दर्शन करने के लिए पेशावर से अजमेर पहुंचे। जीव और ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में तथा अन्य कुछ गूढ़ विषयों पर उनके मन में जो शंकाएं थीं, श्री चरणों में बैठकर पं० लेखराम ने उनका समाधान प्राप्त किया और यों उनकी चिरकालीन मनोकामना पूर्ण हुई। स्वामी जी ने पं० लेखराम को एक अष्टाध्यायी उस भेंट की निशानी के रूप में भेंट की।

एक दिन जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे स्वामी जी से भेंट करने पधारे उन्होंने। १ घंटा प्रतीक्षा की। स्वामी जी ने कहला भेजा कि वह वेद भाष्य के कार्य में व्यस्त हैं अतः वार्तालाप करने की स्थिति में नहीं हैं। श्री रानाडे चले गए और सायंकाल ५ बजे के बाद आए और स्वामी जी के साथ देर तक वार्तालाप करते रहे। रानाडे स्वामी जी को अपना गुरु मानते थे। इलाहाबाद में हुए इंडियन नेशनल कान्फ्रेंस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने इस तथ्य की चर्चा की थी।

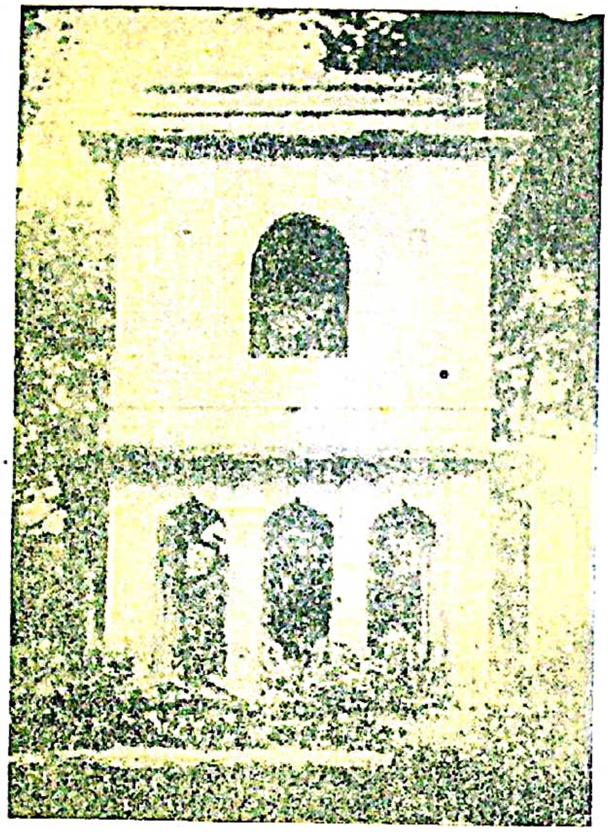
बम्बई समाचार ने स्वामी जी के एक व्याख्यान की जो ३ जून, १८८२ को दिया गया था रिपोर्ट अंकित करते हुए लिखा :—

स्वामी जी ने अपने व्याख्यान में इस बात पर बड़ा दुःख प्रगट किया कि दूध इतना मंहगा हो गया है कि गुजरात के ग्रामीण जनों को उसकी उपलब्धि दूभर हो गई है। इसलिए वे शरीर से कमजोर हो गये हैं। स्वामी जी ने पुराने रिकार्ड से यह भी सिद्ध किया कि अंग्रेजों के भारत में आने से पहले देशवासी घी और दूध का प्रचुर प्रमाण में प्रयोग करते थे।"

मसूदा में



मसूदा नरेश
श्रीमन्त राव बहादुरसिंह जी वर्मा



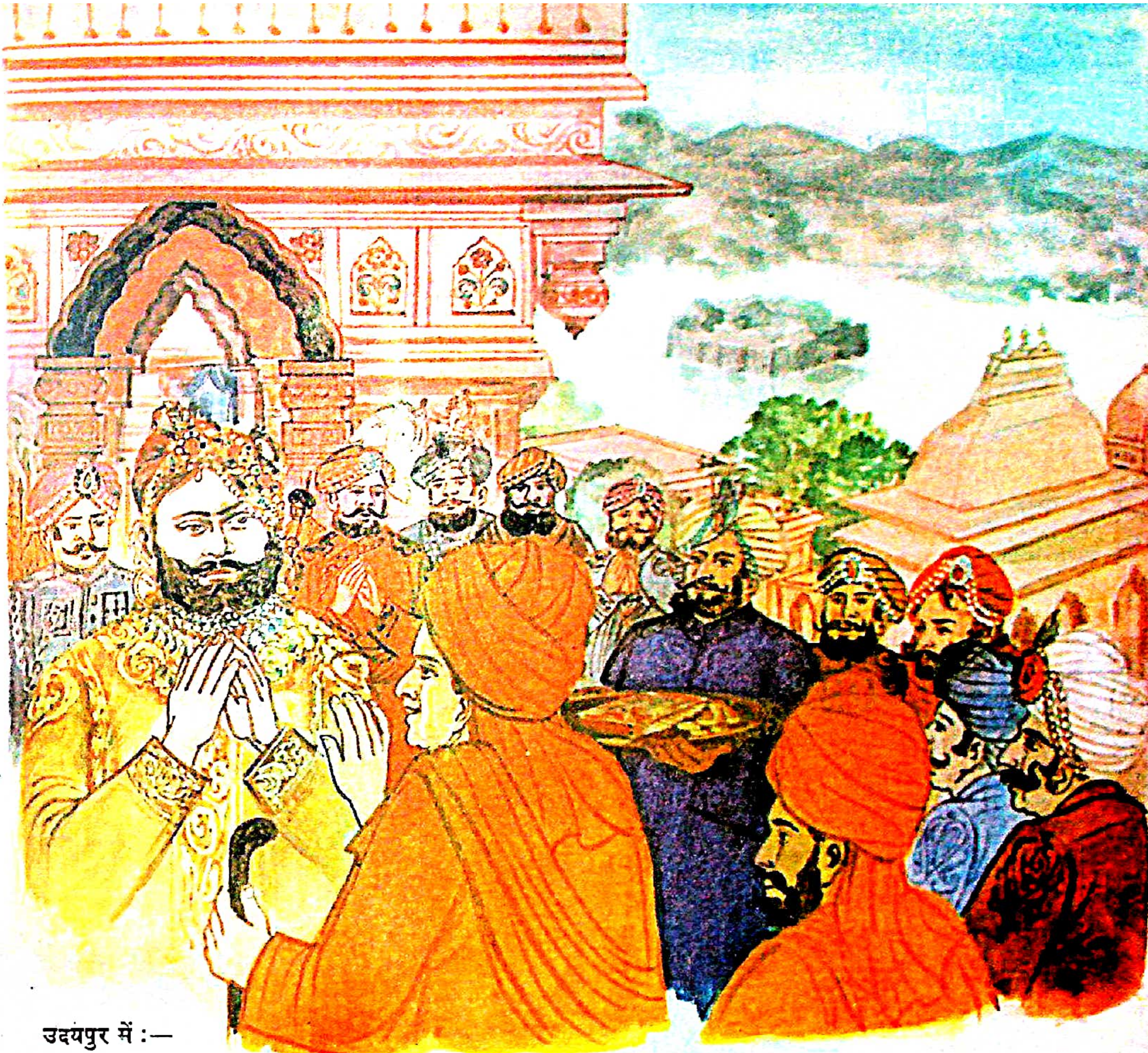
रामबाग स्थित भवन जहां महर्षि दयानन्द
मसूदा प्रवास के समय रहे

मसूदा नरेश पहले पुष्कर में स्वामी जी से मिल चुके थे और वे उनके अनन्य भक्त बन गए थे। उन्होंने बड़े आदर से स्वामी जी को अपने यहाँ बुलाया और मसूदा हाउस में उनके ठहरने की व्यवस्था की।

अगले दिन से ही स्वामी जी के व्याख्यान प्रारम्भ हो गए। ठाकुर साहब ने व्यावर से पादरी शूलबेड को भी शास्त्रार्थ के लिए बुलाया। पादरी साहब आए भी पर शास्त्रार्थ नहीं किया और कहा कि मैं तो केवल स्वामी जी का व्याख्यान सुनने आया हूं।

मसूदा में कुछ जैन साधुओं ने शास्त्रार्थ का प्रस्ताव रखा। दोनों पक्षों की ओर से कुछ लिखित प्रश्नोत्तर भी हुए, पर शास्त्रार्थ नहीं हो सका, क्योंकि साधुओं ने अन्त में यह कहकर पीछा छुड़ा लिया कि हम तो साधु हैं, हमें शास्त्रार्थ करके क्या करना है।

मसूदा के राव साहब ने स्वामी जी के परामर्श से एक वृहत् यज्ञ का आयोजन किया जिसमें स्वयं राव साहब यजमान बने और प्रथम आहुति डाली। इस यज्ञ का इतना प्रभाव पड़ा कि अनेक जैनियों ने भी स्वामी जी के हाथों से यज्ञोपवीत ग्रहण किया और अपने आपको कृतकृत्य समझा।



उदयपुर में :—

वम्बई से स्वामी जी रतलाम, जावरा, चित्तौड़ और निम्वाहेड़ी होते हुए ११ अगस्त सन् १८८२ को उदयपुर पहुंचे। महाराणा की ओर से उनका समारोह-पूर्वक स्वागत किया गया और नौलखा बाग में, जो उस समय 'सज्जन निवास' कहलाता था, ठहरने की व्यवस्था की गई। स्वामी जी की सेवा-शुश्रूषा का भार राज्य की धर्मसभा ने संभाला।

उदयपुर नरेश के राजमहल में स्वामी जी के व्याख्यान होने लगे। इन व्याख्यानों में समस्त जागीरदार और राजन्य-वर्ग शामिल होता। स्वामी जी ने महाराणा से कहकर दशहरे के अवसर पर होने वाली पशुबलि में बहुत कमी करवा दी। महाराणा को एकान्त में समझा कर स्वामी जी ने महलों में होने वाला वेश्याओं का नृत्य भी बन्द करवा दिया। स्वामी जी ने महाराणा से कहा कि यदि आप को संगीत का शौक है तो ऊटपटांग अश्लील गीतों के बजाय वेदगान कराओ, हम वेदगान सिखाने को तैयार हैं। महाराणा के राजगायक इनायत खां ने और मोहनलाल पण्ड्या ने कुछ वेदगान सीखा भी था।

कुछ दिन ठहरने के बाद स्वामी जी ने उदयपुर से जाने की इच्छा प्रकट की तो महाराणा ने उनसे वहीं चतुर्मास बिताने का अनुरोध किया। स्वामी जी ने महाराणा का अनुरोध स्वीकार कर लिया। महाराणा अपनी मंत्री-परिषद के साथ स्वामी जी की अभ्यर्थना के लिए सेवा में उपस्थित हुए। उसके बाद महाराणा प्रतिदिन प्रातः और सांय स्वामी जी के दर्शनों के लिए आने लगे। महाराणा का स्वामी जी के प्रति इतना अनुराग बढ़ गया कि प्रातःकाल भ्रमण के समय भी वे कभी-कभी अपनी घोड़ा गाड़ी लेकर पहुंच जाते।

मातृ शक्ति का सम्मान :—

स्वामी जी के हृदय में स्त्रियों के लिए अतिशय सम्मान का भाव था। स्वामी जी स्त्री जाति की पूर्ण स्वतंत्रता और वेदाधिकार के पक्षपाती थे। वे उन्हें द्विज पद प्रदान कर गए हैं।

एक दिन स्वामी जी व्याख्यान के बाद कई राजों एवं पंडितों के साथ भ्रमण करने जा रहे थे। मूर्ति पूजा पर बहस चल रही थी, आगे एक देवालय आ गया। वहाँ उस समय बहुत से छोटे-छोटे बच्चे खेल रहे थे जिनमें एक लड़की भी थी। स्वामी जी ने एकाएक सिर नीचा कर लिया और फिर आगे बढ़ गए। एक साथी पंडित ने कहा—'स्वामी जी' ! मूर्ति पूजा का खंडन चाहे जितना करो पर देव बल का भी प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देवालय के सामने आपका मस्तक आप ही आप नीचा हो गया।" महाराज सुनते ही उन्हीं पांव खड़े हो गए और उन बालकों में खेलती हुई एक ४ वर्ष की नंगी बालिका की ओर संकेत करके बोले—

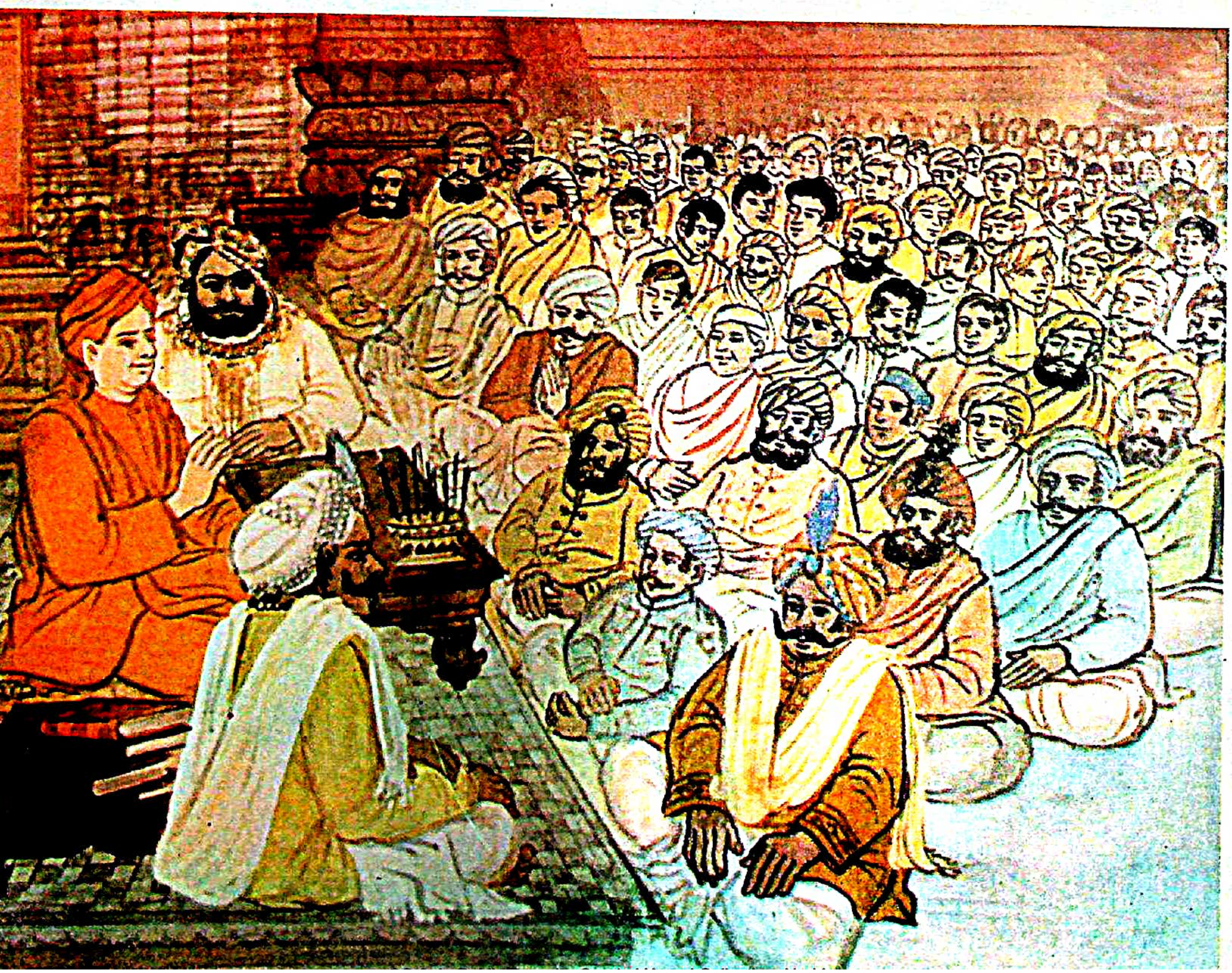
"देखते नहीं हो यह मातृ शक्ति है जिसने हम सबको जन्म दिया है।" यह सुनते ही सब चुप हो गए।

एक लिंग मन्दिर की गद्दी ठुकरायी :—

एक दिन महाराणा सज्जन सिंह ने एकान्त में स्वामी जी को निवेदन किया—'आपको एक लिंग मन्दिर की गद्दी भेंट की जायगी जिसकी लाखों रुपए की आय है परन्तु आपको मूर्ति पूजा का खंडन छोड़ना होगा।'

यह सुनते ही स्वामी जी के तन बदन में आग लग गई। रोष भरे स्वर में कहा 'महाराणा ! यदि मुझे धन का लोभ होता तो मैं अपने महा सम्पन्न घर को न त्यागता। मैं आपके राज्य से एक दौड़ लगा कर भाग सकता हूँ। परन्तु प्रभु के राज्य से क्यों कर भाग सकता हूँ ध्यान रहे आगे मुझ से इस प्रकार की बात न कहना।"

महाराणा आश्चर्यचकित होकर एकदम मौन हो गए।

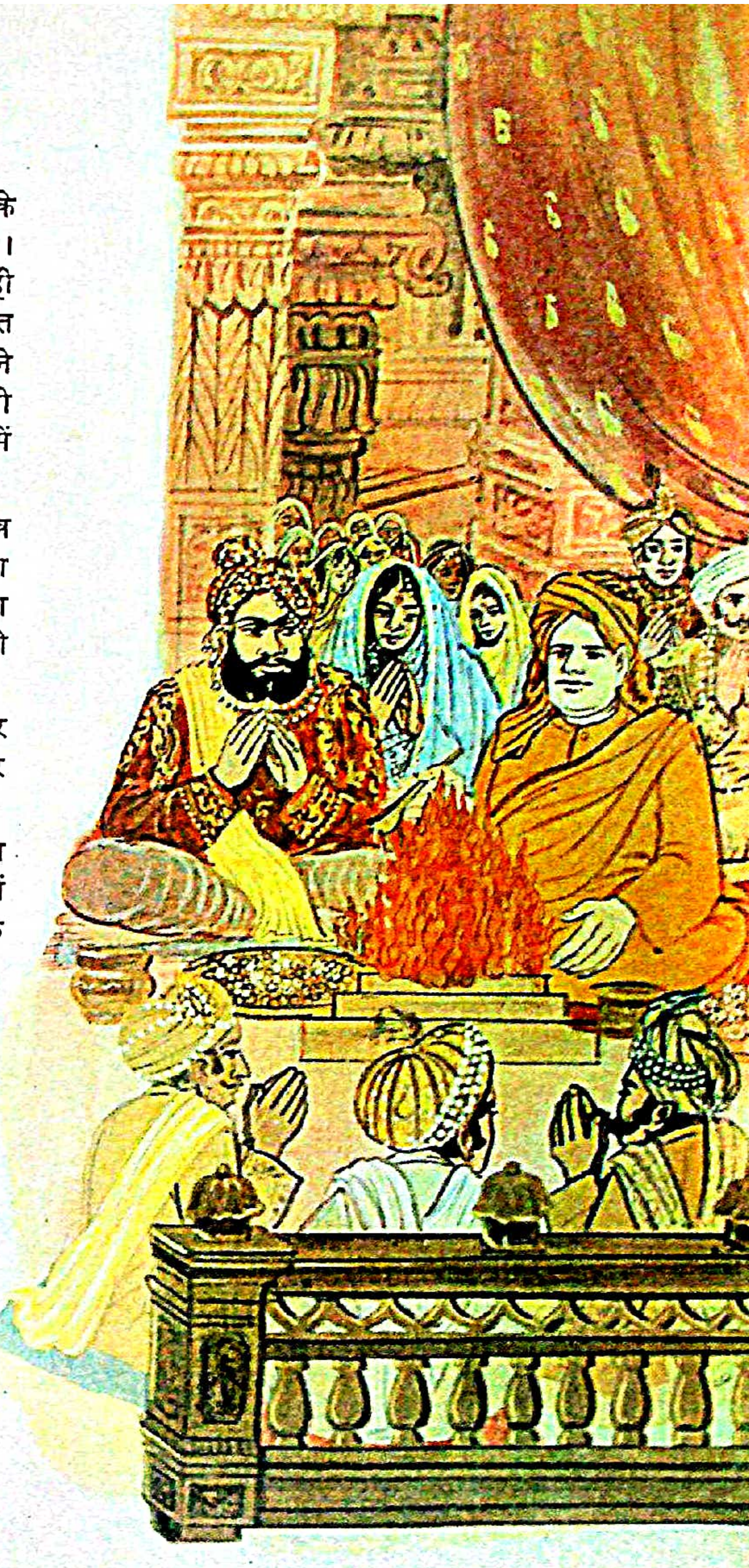


स्वामी जी ने महाराज की दिनचर्या का निर्धारण करके उनसे पूछा कि आप इसके अनुसार आचरण करेंगे या नहीं। महाराजा ने कहा कि अवश्य करूंगा, और अगले दिन से ही स्वामी जी के कथनानुसार प्रातः काल चार बजे से लेकर रात के ९ बजे तक कार्यक्रम बनाकर महाराणा उसका पालन करने लगे। इस कार्यक्रम में प्रतिदिन राजमहल में हवन करना भी सम्मिलित था। महाराणा नित्य हवन करने लगे। हवन में रानियाँ और राजकुमार सब श्रद्धापूर्वक शामिल होते।

स्वामी जी ने सब सरदारों के पुत्रों को शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा देने के लिए एक विशेष पाठशाला का सुझाव दिया जिसे महाराणा ने स्वीकार कर लिया। पर बाद में महाराणा के रोगग्रस्त हो जाने के कारण वह प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं हो सका।

स्वामी जी ने राजकीय पाठशालाओं के लिए श्रेणीवार एक पाठ्यक्रम भी बनाया था जिसे महाराणा ने लागू कर दिया था।

स्वामी जी ने सुझाव दिया था कि न्यायालयों में सब काम देवनागरी लिपि में होना चाहिए। इस समय न्यायालयों में प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों के स्थान पर उन्होंने संस्कृत के पर्यायवाची शब्द भी लिखवा दिये थे।





महाराणा ने स्वामी जी से संस्कृत भी पढ़ना प्रारम्भ किया। स्वामी जी ने उन्हें मनुस्मृति के ७, ८, ९ अध्याय और महाभारत का उद्योगपर्व और वनपर्व पदच्छेद और सन्धि आदि का विश्लेषण करके समझाते हुए पढ़ाए। राजनीति का मर्म समझाने के लिए उन्हें विदुर नीति और प्रजागर नीति भी पढ़ाई।



स्वीकार-पत्र :—

सन् १८८० में जब स्वामी जी मेरठ में थे तभी उन्होंने परोपकारिणी सभा की स्थापना की बात सोची थी और उसके नियम आदि की पाण्डुलिपि भी तैयार कर ली थी परन्तु उस समय उसकी रजिस्ट्री नहीं हो पाई थी। स्वामी जी का वह संकल्प शिथिल नहीं हुआ था। अब उदयपुर में रहते हुए फिर उन्हें अपने संकल्प का ध्यान आया और उसमें अधिक विलम्ब करना उचित न समझकर २७ फरवरी सन् १८८३ को सब प्रतिष्ठित और आर्यसमाज के हितैषी सज्जनों की उपस्थिति में स्वामी जी ने स्वीकार-पत्र (वसीयतनामा) लिखकर तैयार कर लिया।

इस स्वीकार-पत्र के अनुसार २३ सभासदों की एक सभा बनाई गई जिसका नाम परोपकारिणी-सभा रखा गया। इस सभा को अधिकार दिया गया कि वह स्वामी जी के वस्त्र, पुस्तकें धन और यंत्रालय आदि को परोपकार और सत्कार्य में उपयोग कर सकती है।



महाराणा श्री सज्जनसिंह जी वर्मा
उदयपुराधीश, सभापति



राजाधिराज सर नाहरसिंह जी वर्मा
शाहपुराधीश, सभासद



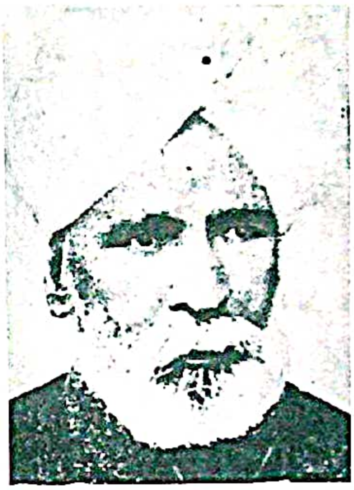
कविराज दयामलदास जी
उदयपुर, मंत्री



पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या
उदयपुर, उप-मंत्री



श्रीमन्त राव बहादुरसिंह जी वर्मा
मसूदा (अजमेर), सभासद



श्री लाला मूलराज एम०ए०
आर्यसमाज लाहौर, उप-प्रधान

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा
संस्थापित
परोपकारिणी सभा के प्रारंभिक
सदस्यों के कुछ चित्र



रायबहादुर पं० सुन्दरलाल
सुपरि० वर्कशाप अलीगढ़, सभासद



लाला साईंदास, मंत्री—
आर्यसमाज लाहौर, सभासद



जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे
पूना, सभासद



साहू दुर्गाप्रसाद, कोषाध्यक्ष—
आर्यसमाज फर्रुखाबाद, सभासद



राजे पं० गोपालराव हरि देशमुख
बम्बई, सभासद



प्रोफेसर श्यामजी कृष्ण वर्मा
आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, लंडन

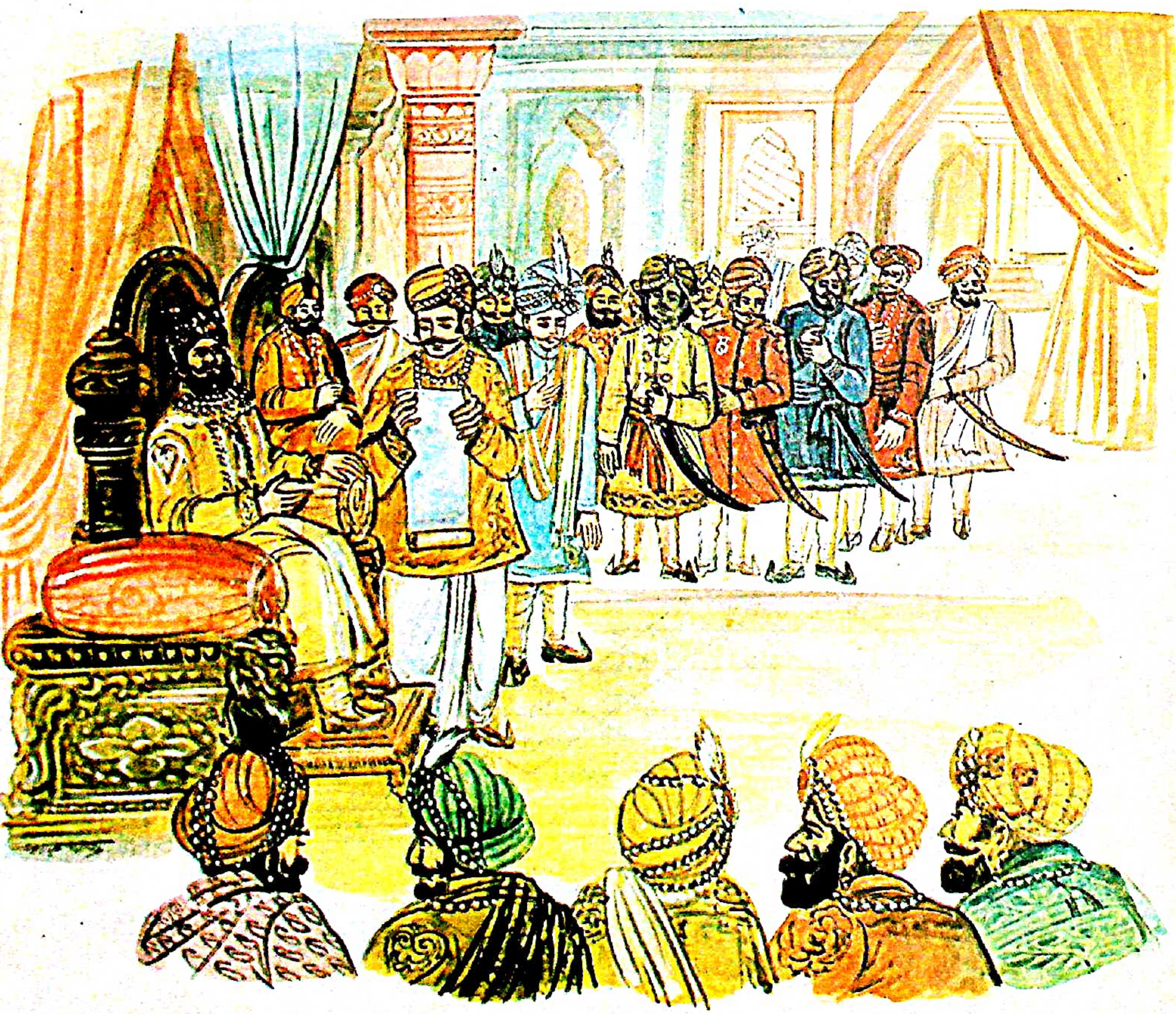


राजा जयकृष्णदास जी. सी. आई. ई.
डिप्टी कलक्टर बिजनौर, मुरादाबाद

सभासदों की नामावलि के साथ ही सभा के उद्देश्य और नियम भी निर्धारित किए गए। इन नियमों में एक नियम यह भी है कि स्वीकार-पत्र के विषय में यदि कोई विवाद उपस्थित हो तो उसे सरकारी न्यायालय में न ले जाकर सभा के सदस्य स्वयं ही उचित निर्णय करें और जब आपस में किसी भी प्रकार निर्णय न हो सके, तभी न्यायालय की शरण ली जाए।

उदयपुर नरेश महाराणा श्री सज्जनसिंह जी परोपकारिणी सभा के प्रधान बनाए गए और लाहौर के लाला मूलराज उपप्रधान। मेवाण के कविराज श्यामलदास और मेरठ के रईस लाला रामशरण दास मंत्री बनाए गए और पाण्ड्या मोहनलाल उपमन्त्री।

उदयपुर के दरबार में यह स्वीकार-पत्र पढ़कर सुनाया गया। दरबार में उपस्थित सम्भ्रान्त सज्जनों ने उसपर अपने हस्ताक्षर किए और उसके बाद उसकी रजिस्ट्री हुई।





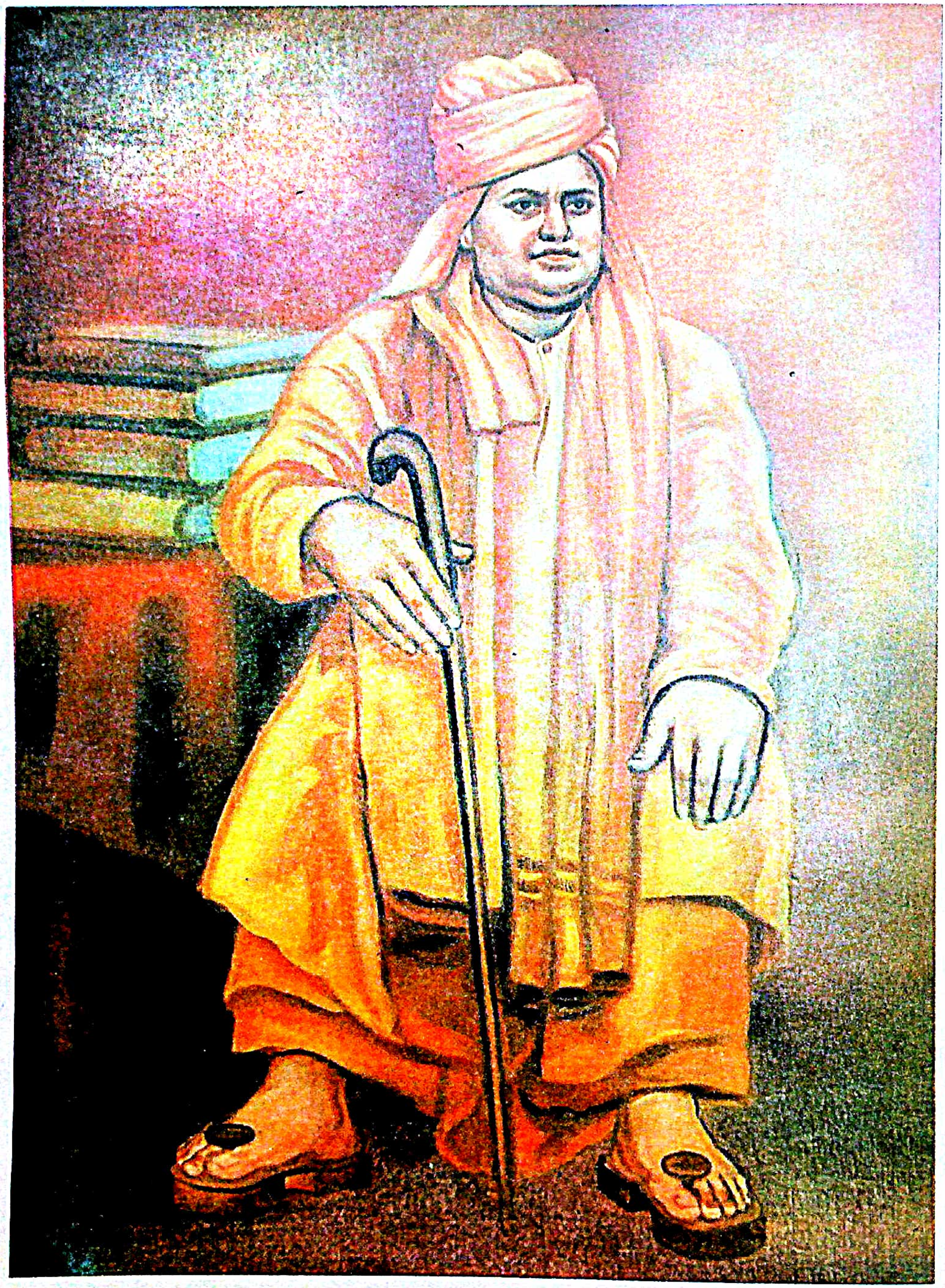
उदयपुर से विदाई :—

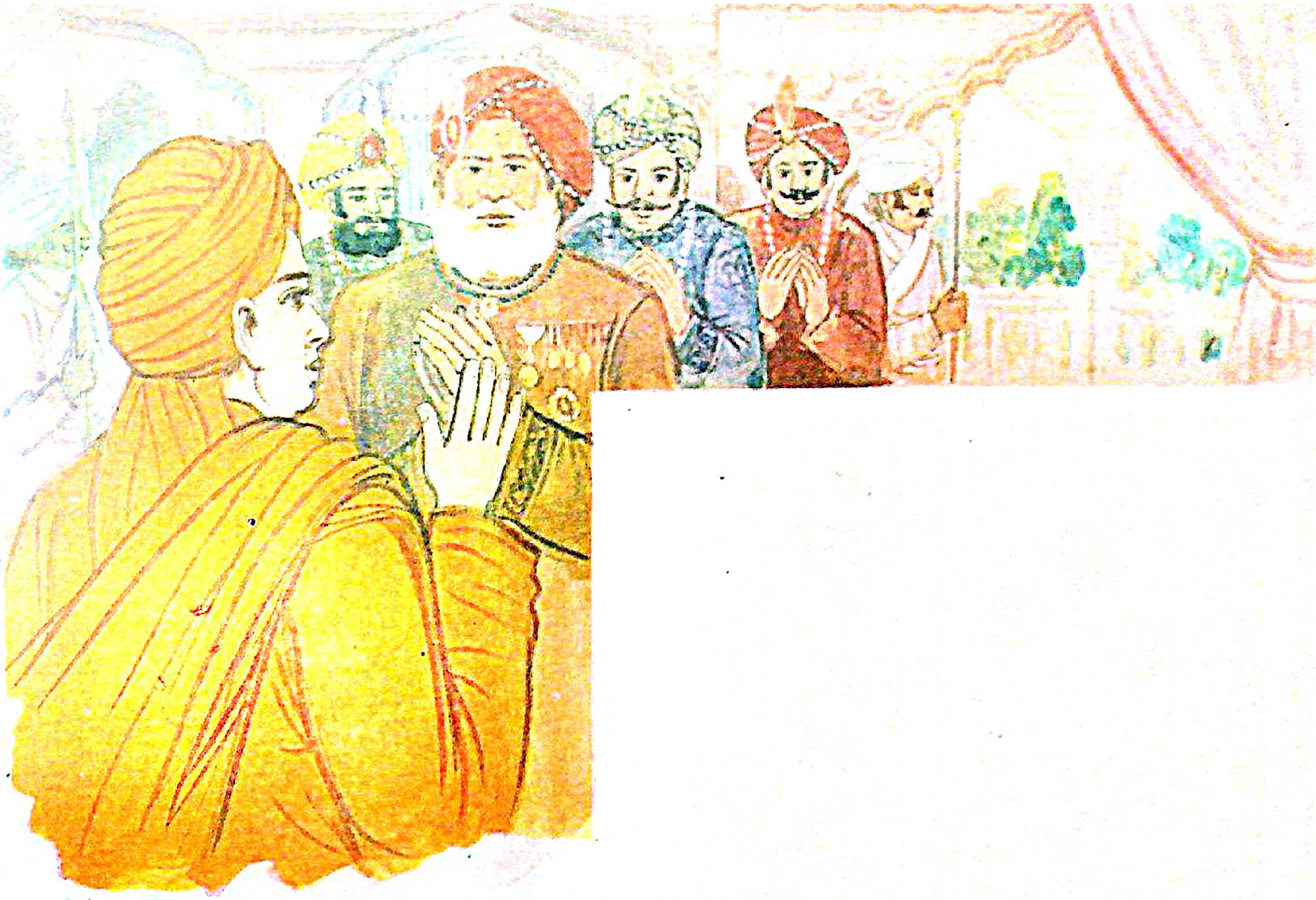
जब स्वामी जी का उदय पुर से विदा होने का अवसर आया तब समस्त दरबारी लोग तथा नगर के अन्य प्रतिष्ठित लोग बहुत भाव-विभोर हो गए। महाराणा सज्जनसिंह ने दो हजार रु० स्वामी जी को भेंट किए, पर स्वामी जी ने स्वीकार नहीं किए। महाराणा ने कहा कि हम तो इस राशि का दान के लिए संकल्प कर चुके, इसलिए अब इसे अपने पास नहीं रख सकते। तब महाराणा ने आग्रहपूर्वक वह राशि परोपकारिणी सभा को प्रदान कर दी। इस राशि से एक वैदिक निधि के नाम से कायम कर दी गई। बाद में अन्यत्र जमा धन भी इसी कोष में जमा कर दिया गया।

महाराणा ने अपने हस्ताक्षरों से युक्त एक मान-पत्र स्वामी जी की सेवा में प्रस्तुत किया। राजस्थानी भाषा के इस मान-पत्र में कहा गया था कि सात मास के आपके उदयपुर निवास से चित्त अत्यन्त आल्हादित रहा। आपकी शिक्षा और उपदेश श्रेष्ठ उन्नतिदायक हैं। उपदेश उसी का सार्थक होता है जिसका अपना आचरण भी उसके प्रतिकूल न हो। आपकी कथनी और करनी में यथार्थ रूप से कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं हुआ। हमारी इच्छा तो नहीं होती कि आपको अपने से वियुक्त होने दें, पर आपका शरीर सबके उपकार के लिए है, इसलिए अवरोध उपस्थित करना उचित नहीं। फिर भी आशा है कि आप शीघ्र ही पुनः दर्शन देकर चित्त को अनुमोदित करेंगे।

स्वामी जी को महाराजा ने अति सम्मानपूर्वक विदा किया। स्वामी जी उदयपुर से चित्तौड़ आए। चित्तौड़ में स्वामी जी सात दिन रहे।

उसके बाद शाहपुराधीश ने स्वामी जी को शाहपुरा लाने के लिए अपने विश्वस्त व्यक्ति चित्तौड़ भेजे। स्वामी जी उनके साथ शाहपुरा के लिए चल पडे।





छुट्टी है :—

एक दिन एक बड़े पंडित स्वामी जी के पास आए स्वामी जी ने कहा "आइए। व्यास जी! बैठिए। आज मुझे भी छुट्टी है। आपसे वार्तालाप करने में पूरा सुभीता होगा।" व्यास जी ने निवेदन किया "भगवन्! छुट्टी तो बद्ध लोगों के लिए हुआ करती है। आप तो परम हंस हैं। पूर्ण स्वाधीन और स्वच्छन्द हैं। आपको ऐसा कौन बंधन शेष है जिससे आपने आज अवकाश मनाया है।" स्वामी जी ने उत्तर दिया—'मैं सारे धार्मिक बंधनों को मानता हूं। वर्णाश्रम से नीति-रीति में, मैं निरंकुश नहीं हूँ। स्वच्छन्दता पूर्वक ही वेद भाष्य आदि का कार्य किया करता हूं। आज उससे छुट्टी मनाई है।"

संन्यास धर्म :—

स्वामी जी महाराज ने अपने ग्रन्थों में संन्यास धर्म का बड़ा महत्त्व दर्शाया है। वे प्रशान्त चित्त, जितेन्द्रिय और ज्ञानी जन को ही संन्यास का अधिकारी वर्णन करते हैं। साम्प्रदायिक संन्यास देने की विधि के वे बड़े विरोधी थे। उन्होंने संन्यास लेकर भिक्षा ग्रहण करना उन्हीं के लिए बताया है जो जनता के हितार्थ अपना जीवन उत्सर्ग कर देते है। लोक-कल्याण के लिए रात-दिन यत्नशील रहते हैं। सत्योपदेश और परोपकार कर्म में परायण पाए जाते हैं और जो आठों पहर प्रजा-प्रेम का परम पवित्र पुण्य पाठ पढ़ाते रहते हैं।

शारीरिक सामर्थ्य रखते हुए अनुपकारी जन का पराए अन्न पर पेट पालना एक प्रकार का पतित कर्म है।

शाहपुरा में :—

जब चित्तौड़ में लार्ड रिपन का दरबार हुआ था तब शाहपुराधीश महाराज नाहरसिंह ने स्वामीजी का प्रथम बार दर्शन किया था और स्वामी जी के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी और तभी से वे स्वामी जी को शाहपुरा बुलाने के लिए उत्सुक थे।

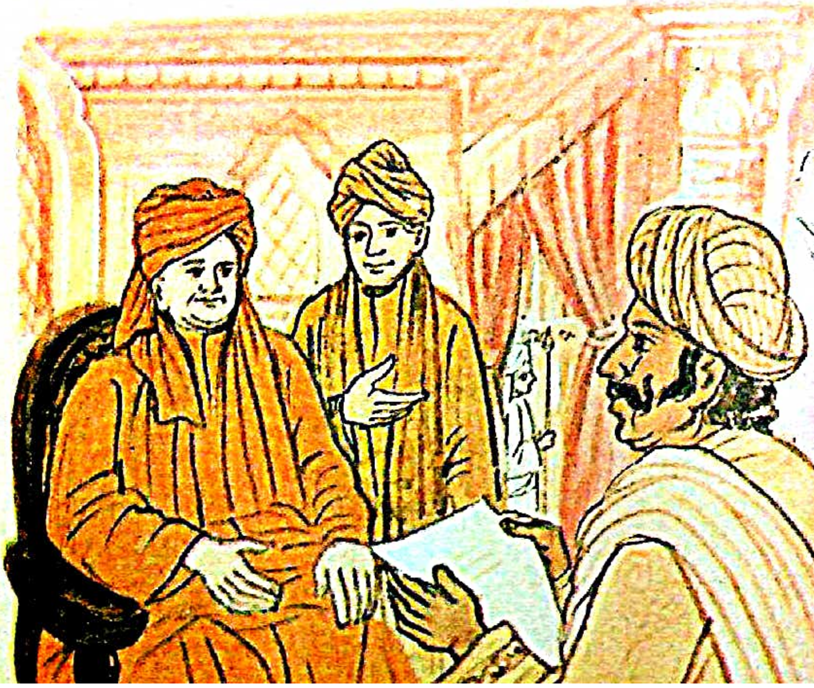
६ मार्च १८८३ को स्वामी जी शाहपुरा पहुंचे। राजकीय उद्यान में उनके ठहरने की व्यवस्था की गई। महाराज नाहरसिंह अपनी मंत्रिपरिषद के साथ स्वयं सेवा में उपस्थित हुए और स्वामी जी का स्वागत किया। प्रतिदिन सायंकाल ६ बजे से रात के ६ बजे तक महाराज नाहरसिंह एक घण्टे तक धर्म-विषयक चर्चा करते और बाद में दो घण्टे तक पढ़ते। महाराज ने स्वामी जी से मनुस्मृति, योगदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन पढ़े। महाराज सवेरे आकर स्वामी जी से एकान्त में योग तथा प्राणायाम की विधि भी सीखते।

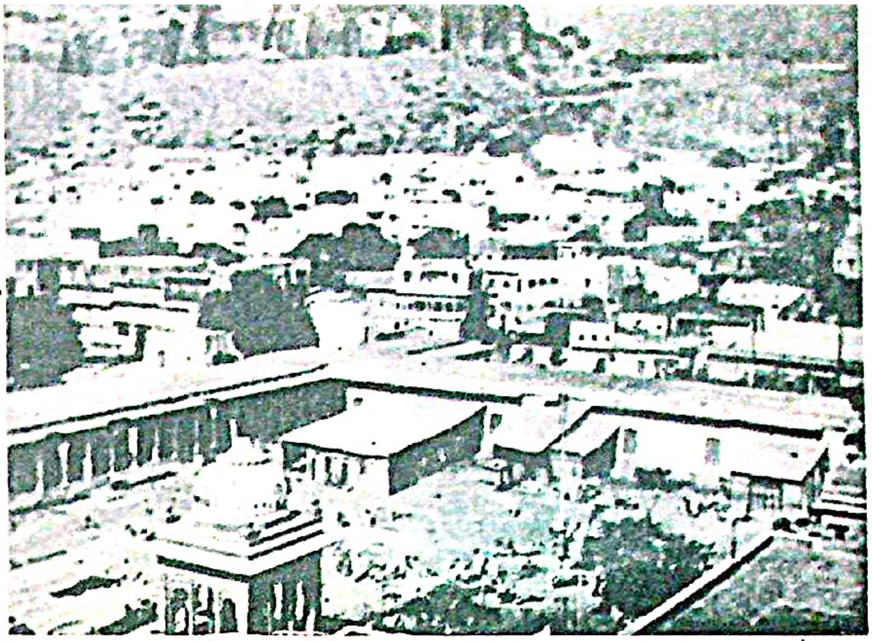


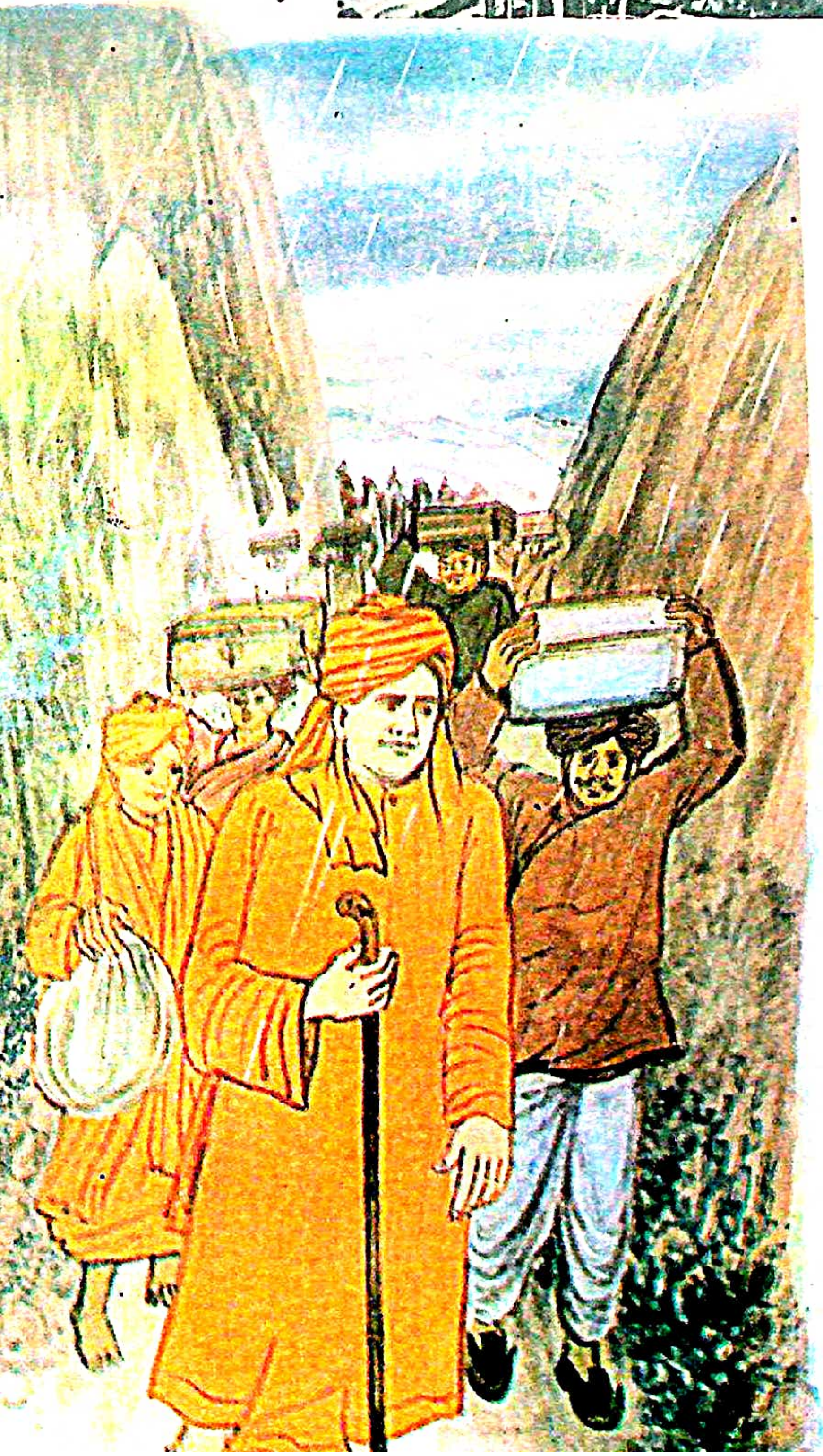
शाहपुरा में रामस्नेहियों का एक बड़ा मेला था। उस मेले में राजस्थान के रामस्नेही सम्प्रदाय के लोग भारी संख्या में आए थे। कुछ रामस्नेही स्वामी जी के व्याख्यान में आए। शाहपुरा में रामस्नेहियों के महन्त हिम्मतराम रहते थे। लोगों ने स्वामी जी से शास्त्रार्थ की बात कही।

स्वामी जी ने कहा कि अपने महन्त को हमारे पास लिवा लाओ, हम शास्त्रार्थ के लिए तैयार हैं। जब लोगों ने हिम्मतराम से शास्त्रार्थ के लिए चलने को कहा तो महन्त जी बोले—'हम तो पानी छानकर पीते हैं और राम-राम कहते हैं, हमें शास्त्रार्थ से क्या काम।' इस प्रकार शास्त्रार्थ न हो सका।

जब स्वामी जी उदयपुर में थे, तभी महाराज प्रतापसिंह और रावराजा तेजसिंह ने स्वामी जी को पत्र भेजकर जोधपुर पधारने का अनुरोध किया था। तब स्वामी जी ने शाहपुरा से लौटकर जोधपुर जाने का वचन दिया था। जब स्वामी जी शाहपुरा में थे तब स्वयं जोधपुराधीश महाराज जसवन्तसिंह का निमंत्रण आया। निमंत्रण पाकर स्वामी जी ने जोधपुर की मरुभूमि को अपने उपदेशामृत से सींचने का निश्चय कर लिया।







शाहपुरा में स्वामी जी ढाई मास रहे। जब शाहपुराधीश को स्वामी जी के जोधपुर जाने के संकल्प का पता लगा तो उन्होंने जोधपुर नरेश की विलासिता प्रवृत्ति को जानते हुए स्वामी जी को चेतावनी देते हुए कहा कि "भगवन् ! जहाँ आप जा रहे हैं वहाँ वेश्याओं का अधिक खंडन न कीजिए।"

पर तलवारों की छाया और तोपों के मुंह पर भी सत्य कहने से न चूकने वाले स्वामी जी ने कड़क कर कहा—"बड़े-बड़े कंटीले वृक्षों को नहरने से नहीं काटा जा सकता। उनके लिए तो तीक्ष्ण शस्त्रों की आवश्यकता होगी।"

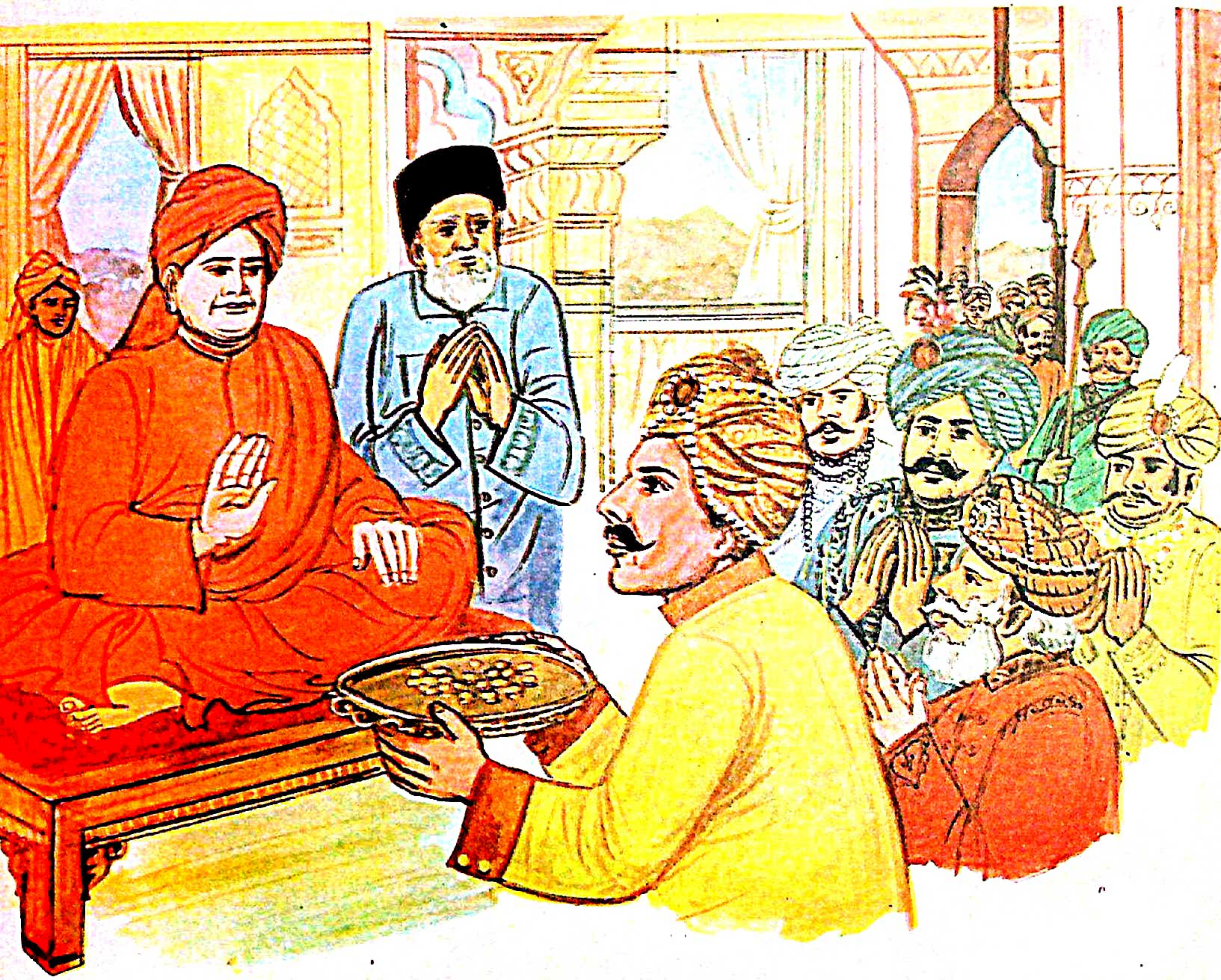
विदा के समय शाहपुराधीश ने भी स्वामी जी को मान-पत्र दिया और खूब सत्कार किया।

स्वामी जी शाहपुरा से अजमेर आए। वहाँ पूना के जज राव बहादुर गोपालराव हरिदेशमुख के सुपुत्र लक्ष्मणराव जी असिस्टेंट कलक्टर खानदेश स्वामी जी से योगाभ्यास सीखने आए हुए थे।

अजमेर में भी जब भक्तों को स्वामी जी के जोधपुर जाने के संकल्प का पता लगा तो उन्हों ने हाथ जोड़कर स्वामी जी से अनुरोध किया कि वह मूल राक्षस का देश है, आप वहाँ मत जाइए। पर धुन के धनी स्वामी जी ने अपने हितैषियों से कहा—"यदि लोग हमारी अंगुलियों की बत्तियाँ बनाकर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहाँ जाकर सत्य उपदेश अवश्य करूंगा।"

मई के अन्त में स्वामी जी अजमेर से पाली पहुंचे। उन दिनों पाली से आगे रेल नहीं थी। आगे जाने के लिए जोधपुर राज्य की ओर से सवारी का प्रबन्ध था। म० लक्ष्मणराव, चारण नवलदान और मुंशी दामोदर दास स्वामी जी के साथ थे। वहाँ से जोधपुर ३०-४० मील दूर था। रास्ते में खूब जोर की वर्षा और आँधी आई। सारा सामान भीग गया। आँधी से रथ की छत भी उड़ गई। स्वामी जी को और उनके साथियों को कुछ दूर पैदल भी चलना पड़ा।

क्या प्रकृति की ओर से भावी विपत्ति का यह कोई पूर्व-संकेत था ?



जोधपुर में :—

जब जोधपुर ३-४ मील रह गया तब स्वामी जी वायुसेवन के लिए यान से उतर कर पैदल चलने लगे। अन्य साथी भी सवारियों से उतर कर पैदल चले। राज्य की ओर से राव राजा जवानसिंह ने नगर की सीमा पर आगे बढ़कर स्वामी जी का स्वागत किया।

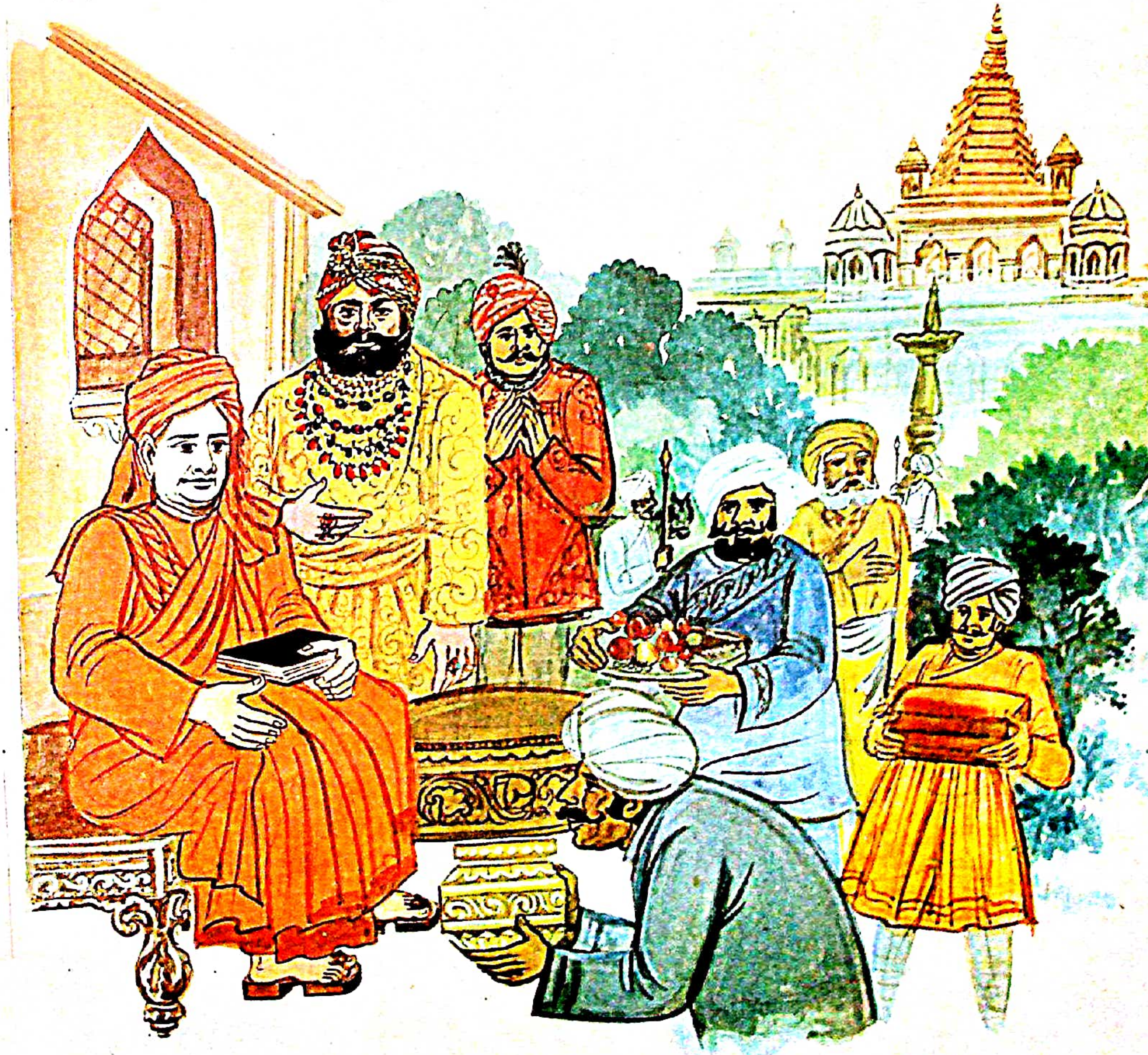
जोधपुर में नजर बाग के सामने भैया फैजुल्लाखां की कोठी में स्वामी जी के ठहरने की व्यवस्था की गई यह फैजुल्लाखां भारत के स्वतन्त्र होने के बाद राजस्थान के मुख्यमन्त्री पद को सुशोभित करने वाले बरकतुल्ला खां के पूर्वज थे। श्री बरकतुल्ला खां ने अलवर आर्यमहासम्मेलन के अवसर पर अपने पूर्वजों की यह कोठी राष्ट्रीय स्मारक के रूप में आर्यसमाज को दान कर दी थी। स्वामी जी के पहुँचते ही कर्नल प्रतापसिंह, महाराजा तेजसिंह और महाराज जसवन्तसिंह के छोटे भाई स्वामी जी के स्वागत के लिए आए। कर्नल प्रतापसिंह ने स्वामी जी को एक मोहर भेंट की और उनके लिए बछड़ेवाली एक गौ, छः सिपाही, एक हवलदार और चार सेवकों के साथ भोजन और शयनादि की उचित व्यवस्था कर दी। कर्नल प्रतापसिंह और रावराजा तेजसिंह ने स्वामी जी की सुख-सुविधा के उपकरण प्रस्तुत करने में कोई त्रुटि नहीं की। महाराज जसवन्तसिंह के गले में पीड़ा थी, इसलिए वे तुरन्त दर्शनों के लिए नहीं आ सके।

जिस दिन महाराज जोधपुर में पधारे, उसी दिन से सत्सङ्गियों की मण्डलियां उनके पास आने लग गईं। वार्तालाप और प्रश्नोत्तर द्वारा ही अनवरत रूप से उपदेशों की वर्षा होने लग गई। स्वामी जी की युक्तियां और प्रतियुक्तियां श्रोताओं की लहलहाती चित्त-लताओं को धीमे-धीमे पड़ने वाली फुहार की तरह शान्त करती थी। राठौर राज्य के सरदार और राठौर वंश के राजपूत प्रभु दयानन्द के एक-एक करके शिष्य बनने लग गए। राठौर राज्य में 'नमस्ते' की मधुर और कर्ण-प्रिय ध्वनि सर्वत्र गूंजती सुनाई देती थी। आर्यत्व का सर्वत्र प्रचार होता चला जाता था।

महाराजा प्रतापसिंह ने स्वामी जी से निवेदन किया कि "भगवन्! आप ब्रह्म हैं या जीव?" उन्होंने उत्तर दिया "मैं जीव हूँ।"

महाराजा महाशय ने कहा कि 'हमारे पंडित तो हमें ब्रह्म बताया करते हैं।' स्वामी जी ने उपदेश देते हुए कहा 'आप ब्रह्म होते तो आप में ब्रह्म के गुण भी पाए जाते। उसके सर्वज्ञता आदि गुण आप में नहीं हैं इसलिए आप जीव हैं। ब्रह्म में भूल और अशुद्धि का मानना भारी भूल है।"

महाराजा महाशय ने फिर निवेदन किया 'भगवन्! कोई ऐसा उपाय या साधन बताइए जिससे विविध वासनाओं के पाश में बद्ध मेरे जैसे मनुष्य की मुक्ति हो जाय। महाराज ने कृपा की—"आप लोगों के दूसरे कर्म तो मोक्ष मार्ग के नहीं हैं किन्तु एक काम करना आपके अधीन है और वह है निरपेक्ष न्याय करना। यदि आप प्रजा का न्याय करने में कमी न आने देंगे तो आपका आत्मा इसी से निर्लेप होकर निर्वाण पद पा लेगा।"





स्वामी जी महाराज ने जसवंतसिंह से पूछा कि कहिए आपकी क्या इच्छा है। महाराज जसवंतसिंह ने कहा कि आपसे कुछ शिक्षा ग्रहण करने की इच्छा है।

इसके बाद स्वामी जी ने महाराज जसवंतसिंह को धर्म और राजनीति का मर्म समझाया, मनुस्मृति के अनुसार राजा-प्रजा के धर्म का वर्णन किया। यह उपदेश लगभग तीन घंटे तक चलता रहा। महाराजा भी इस सारगर्भित मर्मस्पर्शी उपदेश से गद्‌गद् हो गए। उन्होंने स्वामी जी से कहा कि आपका हमारे राज्य में पधारना हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है।

इसके बाद प्रतिदिन शाम को ४ बजे से ६ बजे तक फ़ैजुल्लाखां की कोठी के अहाते में ही स्वामी जी के व्याख्यान होने लगे। श्रोताओं की आंखें खुलने लगीं और जनता को पता लग गया कि अभी तक वह भ्रम और अंधविश्वास में फंसी हुई थी।

इन दिनों स्वामी जी क्षत्रियों के चरित्र-सुधार पर और गोरक्षा पर बहुत बल दिया करते थे।

एक दिन स्वामी जी महाराजा जसवंतसिंह के बंगले पर गए। उस समय महाराजा नन्हीं जान नामक वेश्या के साथ बैठे थे। स्वामी जी के आगमन की सूचना मिलते ही महाराज ने सेवकों को आज्ञा दी कि नन्ही जान की पालकी उठा कर ले जाओ। पालकी को उठाने में स्वयं महाराजा ने भी अपने कंधे का सहारा दिया। इतने में स्वामी जी आ गए और उन्होंने महाराजा को फटकारते हुए कहा—'राजन् ! राजपुरुष सिंहों के समान होते हैं और वेश्याएं कुतियों के समान। कुतियों पर कुत्ते ही आसक्त होते हैं, सिंह नहीं।''

इसके बाद स्वामी जी ने कर्नल प्रताप सिंह को भी एक पत्र लिखा जिसमें राजाओं के लिए चरित्र, स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य की आवश्यकता पर बहुत बल दिया था।





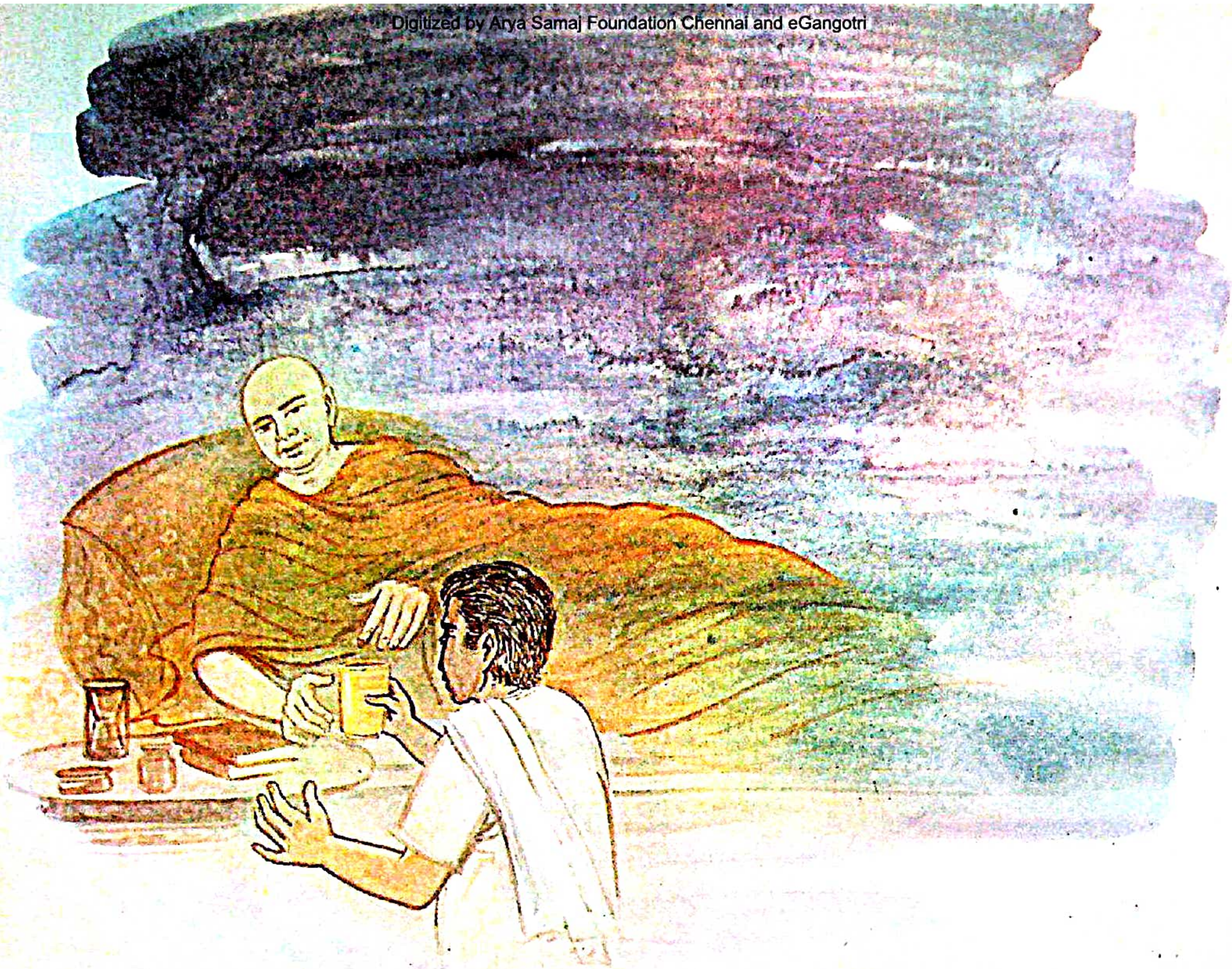
स्वामी जी के जोधपुर पहुंचने के सत्रह दिन पश्चात् महाराज जसवंतसिंह स्वयं स्वामी जी के दर्शनों के लिए आए। स्वामी जी को भेंट देने के लिए महाराजा कुछ मोहरें, वस्त्र तथा अन्य चीजें, अपने सेवकों के साथ लाए। स्वामी जी उस समय कुर्सी पर विराजमान थे।

स्वामी जी के सामने कुर्सी पर बैठना अशिष्टता होगी, यह सोचकर महाराजा नीचे फर्श पर ही बैठने लगे। स्वामी जी ने उन्हें कुर्सी पर बैठने को कहा तो महाराजा जसवंतसिंह ने विनय पूर्वक कहा—भगवन् ! हम तो आपके सेवक हैं, इसलिए हमें अपने चरणों में ही स्थान दीजिए।' स्वामी जी ने उन्हें हाथ पकड़ कर कुर्सी पर बिठाया।

स्वामी जी जोधपुर में लगभग चार मास तक रहे। सन् १८८३ के सितम्बर मास के अन्त में २५-२६ ता० की रात को कल्लू नामक सेवक ६००-७०० रु० का सामान, कुछ रु० और मोहरें चुरा कर खिड़की के रास्ते भाग गया। अगले दिन पुलिस में रिपोर्ट भी हुई। कर्नल मुहैयुद्दीन खां कोतवाल और पुलिस वालों ने स्वामी जी से बारंबार पूछा कि आपका किस पर शक है, परन्तु स्वामी जी ने किसी का नाम नहीं लिया। पुलिस वालों ने चोर की तलाश का नाटक भी किया, पर चोर का कहीं पता नहीं लगा। ऐसा लगता है कि कोई बहुत गूढ़ षड्यंत्र था जिसमें राज्य की पुलिस के साथ अन्य लोग भी शामिल थे।

नन्ही जान तो इस भय के कारण स्वामी जी की शत्रु बन गई थी कि कहीं महाराजा स्वामी जी के उपदेश से मेरा परित्याग न कर दें। इसके अलावा जोधपुर रियासत के चक्रांकित सम्प्रदाय के लोग और पौराणिक जनता भी अपने मतों का खण्डन किए जाने के कारण स्वामी जी की विरोधी हो गई थी। उस समय फैजुल्लाखां की राज्य में तूती बोलती थी और वे राज्य के कर्त्ता-धर्त्ता माने जाते थे। महाराजा जसवंतसिंह पर फैजुल्लाखां का प्रभाव था या नन्ही जान का। एक दिन फैजुल्लाखां के भतीजे मुहम्मद हुसेन ने तलवार की मूठ पर हाथ धर कर, स्वामी जी के व्याख्यान के बीच में खड़े होकर कहा था कि यदि मुसलमानों का राज्य होता और आप इस प्रकार इस्लाम का खण्डन करते तो आप जीवित न बचते। इस पर स्वामी जी ने बड़े स्थिर भाव से कहा था कि "तब मैं भी राजपूतों की पीठ थपक देता और तब वे अपने आप निबट लेते।" उच्च पदस्थ क्षत्रिय इस कारण नाराज थे कि स्वामी जी खुली सभा में उनके दुराचार के लिए उन्हें फटकारते थे।

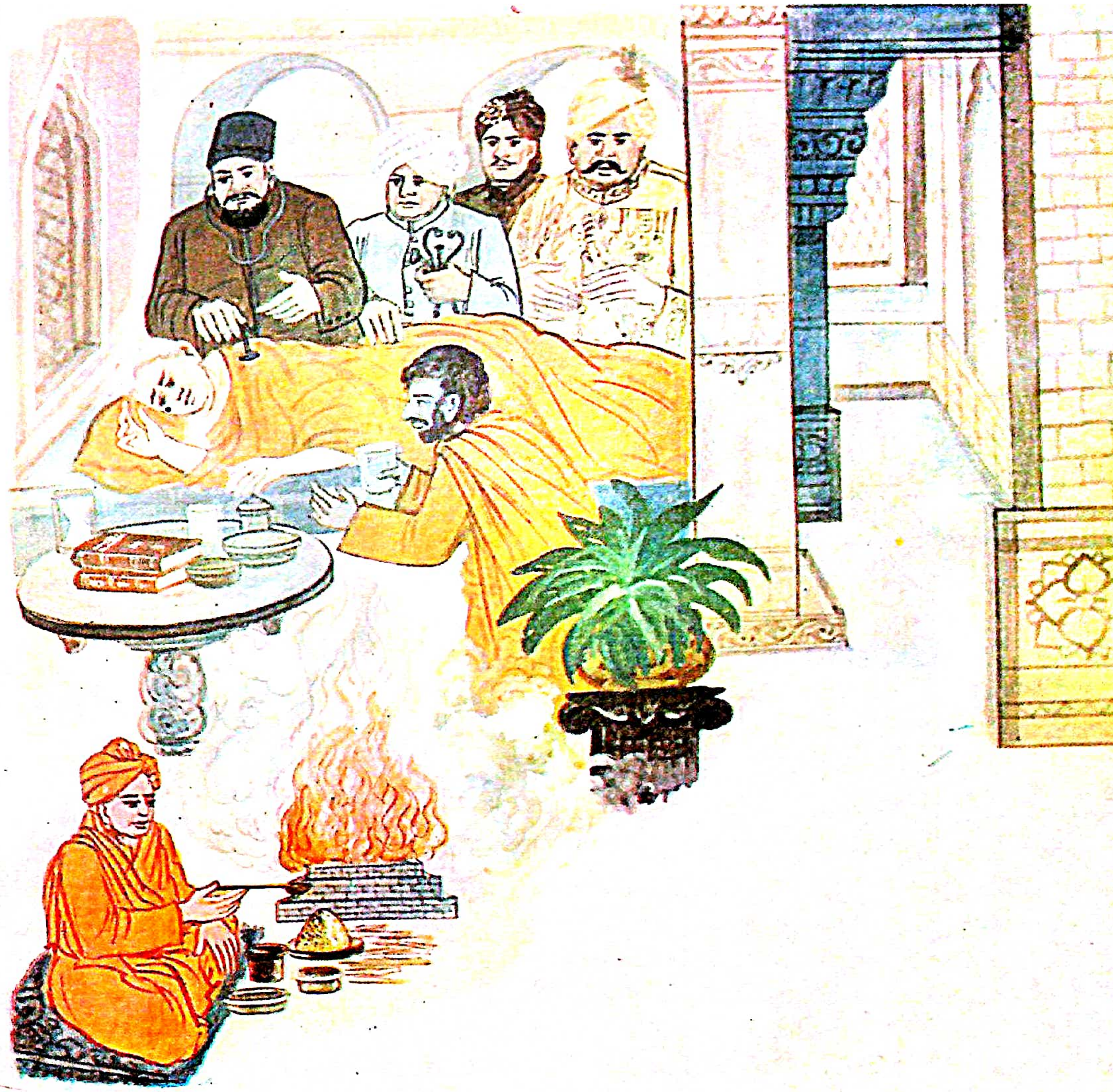
इस प्रकार जोधपुर में सारा वातावरण ही तनाव से भरा हुआ था। स्वामी जी का मन भी इस वातावरण के कारण जोधपुर से उचट गया था। सब विरोधी तत्व मिलकर आपस की साठगांठ करके किसी षड्यंत्र में लिप्त रहे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। उस समय उन देसी राज्यों में वैसे भी षडयंत्रों की भरमार रहती थी।



२९ सितम्बर की रात को स्वामी जी ने नियमानुसार दूध पिया और सो गए। परन्तु उनकी निद्रा भंग हो गई। पेट में भयंकर दर्द हुआ, जी मिचलाने लगा और तीन बार उल्टी हुई। ३० सितम्बर को सवेरे फिर उल्टी हुई। स्वामी जी को संदेह हुआ कोई विषाक्त पदार्थ खिला दिया गया है। धीरे-धीरे उनकी अंतड़ियों और यकृत में सूजन आ गई। उल्टी करने में भी पीड़ा होने लगी। छाती और पेट में दर्द बढ़ता चला गया।

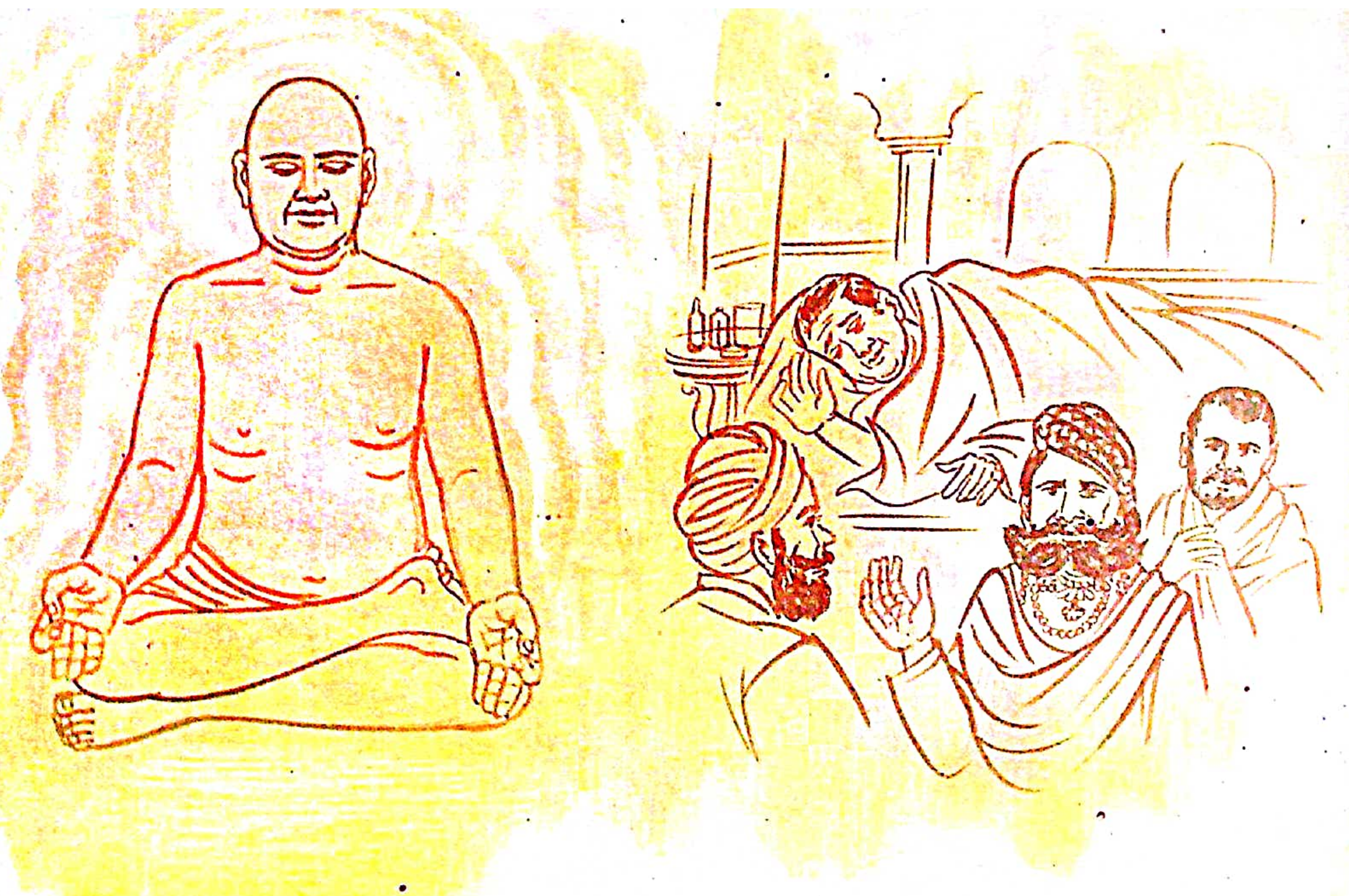
अकस्मात् स्वामी जी के रुग्ण होने का समाचार सुनकर अजमेर से श्री जेठमल तथा अन्य लोग आए। स्वामी जी की कष्टदायक स्थिति देखकर स्वयं उन्हें भी बड़ा दुःख हुआ। इधर रावराजा तेजसिंह और कर्नल प्रताप सिंह को जब स्वामी जी के रुग्ण होने का समाचार मिला तो उन्होंने राज्य की ओर से चिकित्सा का प्रबन्ध किया।





राज्य की ओर से जो चिकित्सक आया, वह इतना कुशल नहीं था। वह तीसरे दर्जे का अस्पताल असिस्टेंट था। पर स्वभाव से खुशामदी और वाचाल होने के कारण जहाँ उसने राजकर्मचारियों में अपनी प्रतिष्ठा बना ली थी, वहां खासा धन भी बटोर लिया था। उसने अंतड़ियों की सूजन दूर करने के लिए जो दवाई दी उसमें कैलोमल की मात्रा यह कहकर सामान्य मात्रा से चार गुनी अधिक डाल दी कि स्वामी जी हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति हैं, सामान्य मात्रा से इन पर कुछ असर नहीं होगा। इस दवाई से जहाँ स्वामी जी की तबियत और खराब हो गई, वहाँ उन्हें दस्तों का तांता भी लग गया। जोधपुर जेल के प्रमुख चिकित्सक डा० सूरजमल स्वामी जी को अलीमरदान खां की दवाई नहीं देना चाहते थे, पर उन्होंने दूसरे डाक्टर की चिकित्सा में अपनी ओर से हस्तक्षेप करना डाक्टरी आचार के नाते ठीक नहीं समझा।

इस हालत में भी स्वामी जी ने कमरे की वायु शुद्ध करने के लिए हवन किया ताकि शुद्ध वायु से रोग के कीटाणु नष्ट हो जाएं। पर उनका रोग बढ़ता ही गया। छाती और पेट में दर्द तथा दस्त तो थे ही, हिचकियां भी आने लगीं। उनके गले, जिह्वा, तालु, सिर और मस्तिष्क में विष के असर से छाले पड़ गए।



इससे पहले जब जब स्वामी जी को विष दिया गया तब तब उन्होंने नमक मिला पानी पीकर और कुंजलक आदि यौगिक क्रियाएं करके उस समस्त विषाक्त और विजातीय द्रव्य को शरीर से बाहर निकाल दिया था। स्वामी जी ने इस बार यौगिक क्रियाएं कीं, किन्तु विष के निवारण में सहायता नहीं मिली। इसके दो ही कारण हो सकते हैं - एक तो यह कि विष इतना भयंकर था कि इस प्रकार की क्रियाओं से उसका दूर होना संभव नहीं था, और दूसरे यह कि अब तक विष का प्रभाव शरीर में इस हद तक फैल चुका था कि वह काबू से बाहर हो गया था।

धीरे-धीरे स्वामी जी की निर्बलता इतनी बढ़ गई कि उन्हें करवट लेने में भी कष्ट होने लगा। डा० सूरजमल का कहना था कि यदि कोई सामान्य व्यक्ति होता और उसे इतने दस्त आ गए होते तो उसका प्राणान्त हो जाता। पर स्वामी जी का शरीर इतना बलिष्ठ है इसलिए इस कष्ट को झेल सका।

डा० सूरजमल का यह भी कहना था कि कैलोमल की इतनी अधिक मात्रा देने के कारण ही स्वामी जी की तबियत लगातार बिगड़ती चली गई।

तभी 'राजस्थान गजट' में स्वामी जी के बीमार होने का समाचार छपा। आर्यजगत् को पता लगा तो सब लोग स्तब्ध रह गए। पर स्वामी जी ने अपनी ओर से किसी को समाचार नहीं दिया, इसका कारण यह था कि वे सुख-दुःख को शरीर का धर्म समझते थे और अपने लिए औरों को कष्ट नहीं देना चाहते थे। पर आश्चर्य की बात यह है कि जोधपुर के अधिकारियों ने भी लगातार दो सप्ताह तक इस विषय में चुप्पी साधे रखी।

इन सब बातों से षड्यंत्र की बात की ही पुष्टि होती है।

अकस्मात् स्वामी जी के रुग्ण होने का समाचार सुनकर अजमेर से श्री जेठमल तथा अन्य लोग आए। स्वामी जी की कष्टदायक स्थिति देखकर स्वयं उन्हें भी बड़ा दुःख हुआ। इधर रावराजा तेजसिंह और कर्नल प्रताप सिंह को जब स्वामी जी के रुग्ण होने का समाचार मिला तो उन्होंने राज्य की ओर से चिकित्सा का प्रबन्ध किया।



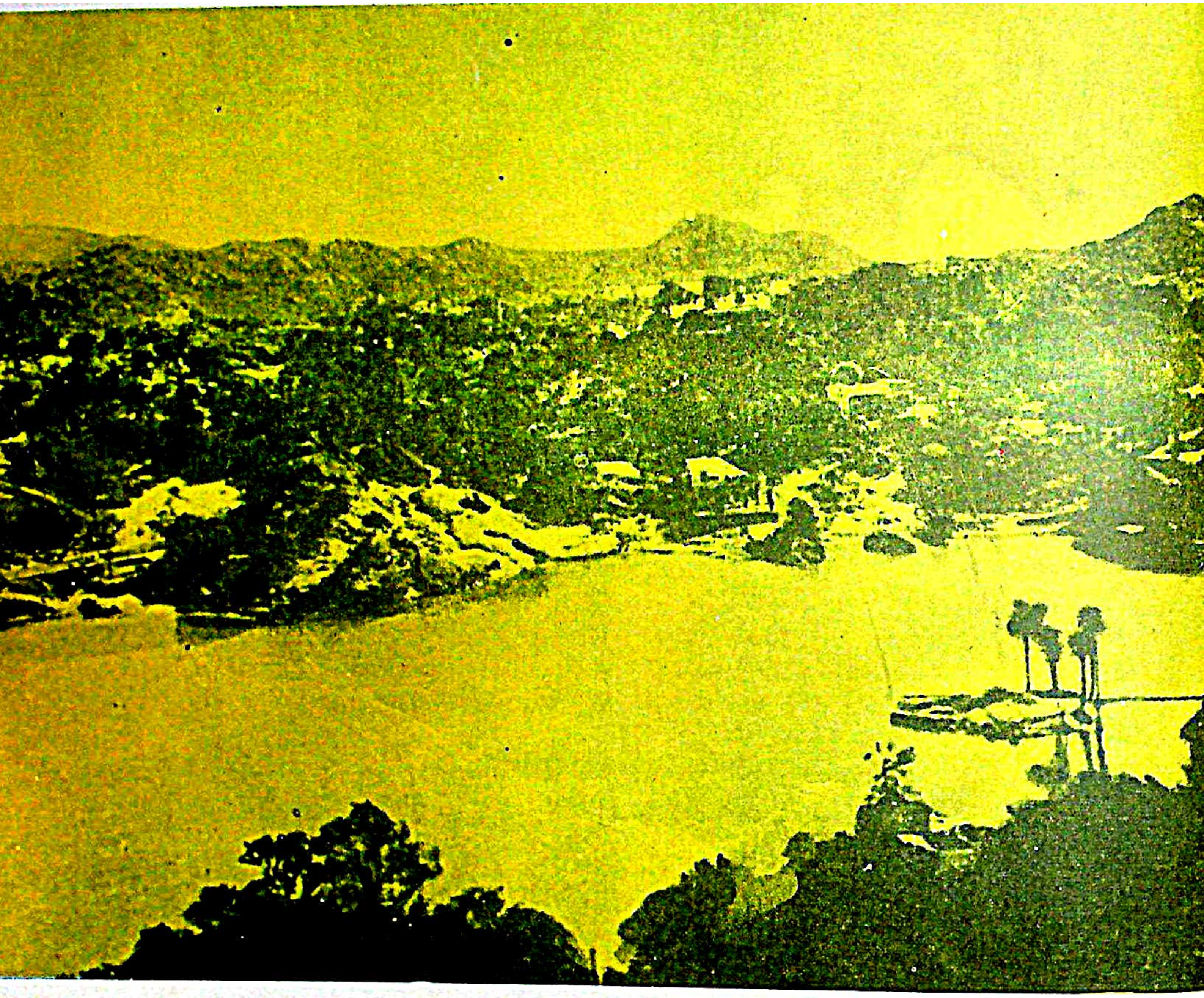
जोधपुर से विदाई :—

१५ अक्टूबर को स्वामी जी की दशा देखकर डाक्टर अलीमरदान खां भी डर गया। उसने अपनी ओर से सुझाव दिया कि स्वामी जी के शरीर में गर्मी बहुत है, इसलिए उन्हें आबू भेज देना चाहिए —वहां के ठण्डे जलवायु से इनके स्वास्थ्य को लाभ पहुंचने की अधिक सम्भावना है। शायद उसने सोचा हो कि यदि स्वामी जी का स्वर्गवास जोधपुर में ही हो गया तो सारा कलंक उसी के सिर रहेगा। दोपहर को रेज़ीडेन्सी सर्जन डा० रोडम को भी बुलाकर दिखाया गया। उनकी भी यही सम्मति रही।

१६ अक्टूबर को महाराज जसवंतसिंह और कर्नल प्रतापसिंह स्वामी जी को विदा करने आए। महाराज ने उन्हें २५०० रु०, दो शाल और कुछ मोहरें दीं और ३२ कहारों को बुलाकर आबू तक स्वामी जी को पालकी पर ले जाने की व्यवस्था कर दी। १६-१६ कहार बारी बारी से पालकी को उठाते। डा० सूरजमल, चारण नवलदान और मुरारदान को आबूरोड स्टेशन तक स्वामी जी के साथ जाने की आज्ञा हुई।

जब स्वामी जी को कई मनुष्यों ने हाथों के सहारे ऊपर के कमरे से धीरे-धीरे उतार कर पालकी में लिटाया, तब महाराज जसवंतसिंह, कर्नल प्रतापसिंह, रावराजा तेजसिंह तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग उपस्थित थे। महाराज ने अश्रु पूर्ण नेत्र और वाष्पावरुद्ध कण्ठ से पुनः जोधपुर पधारने की स्वामी जी से प्रार्थना की। स्वयं महाराज ने पालकी को सहारा दिया और बाग के दरवाजे तक पैदल पालकी के साथ-साथ आए। अन्य लोग दूर तक पालकी के साथ गए।





राजस्थान और गुजरात की सीमा पर स्थित आबू पर्वत अपने स्वास्थ्यदायक जलवायु के लिए प्रसिद्ध है। ऊंचाई केवल ४००० फुट है ,इसलिए शिमला आदि की तरह अधिक ठण्ड भी वहां नहीं पड़ती। आबू वैसे भी ऐतिहासिक स्थान है। दिलवाड़ा का प्रसिद्ध जैन मंदिर जो अपनी कलापूर्ण कारीगरी के लिए विख्यात है, आबू में ही है। आबू में सूर्यास्त का दृश्य इतना आल्हादकारी होता है कि उसे देखने के लिए दूर-दूर से पर्यटक यहाँ आते हैं। एकान्त और शीतल स्थान के अभिलाषी साधकों के लिए भी इसका आकर्षण कम नहीं।

आबू की सबसे बड़ी विशेषता है—उसकी नक्की झील। जिस तरह नैनीताल में नैनी सरोवर के होने से उसकी शोभा सकड़ों गुणा बढ़ गई है, उसी तरह नक्की झील के कारण आबू की शोभा भी अतुलनीय हो गई है।

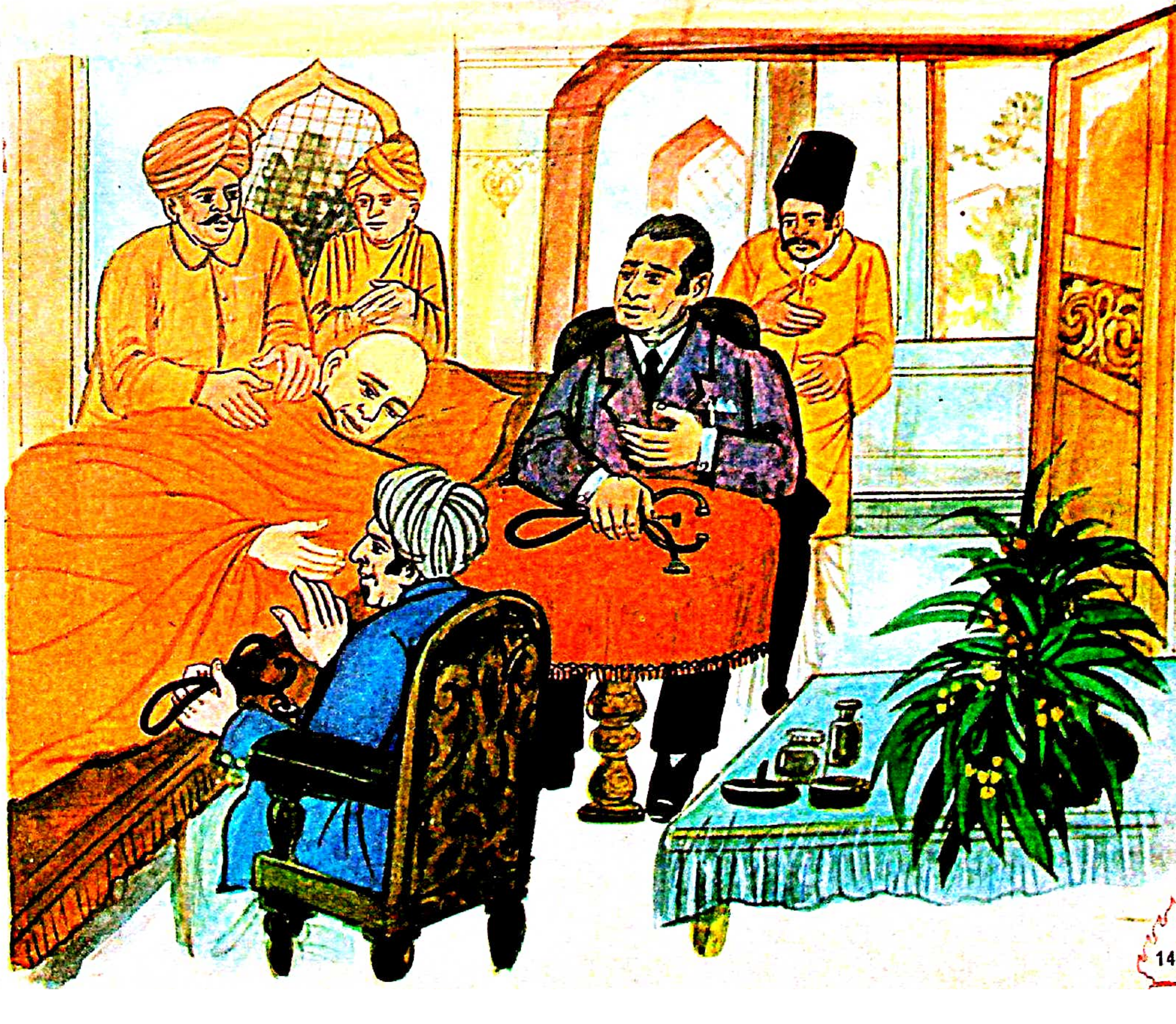
आबू में :—

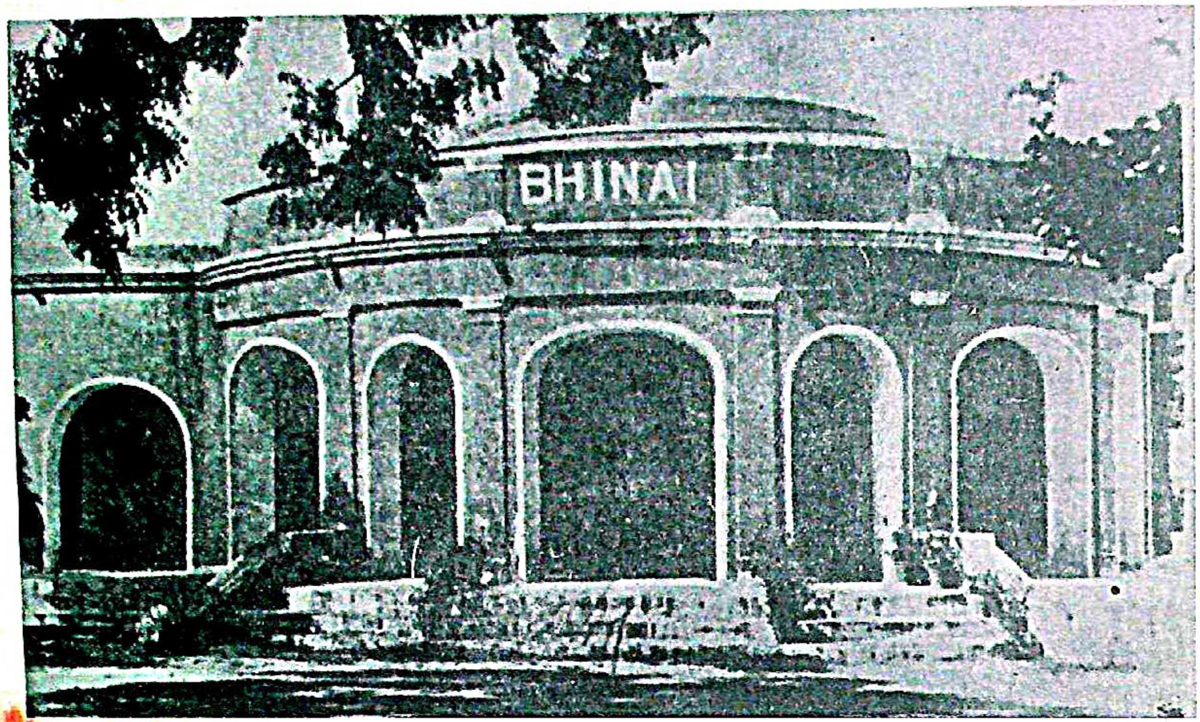
जोधपुर से चलकर स्वामी जी पाली होते हुए आबू पहुंचे। आबू रोड स्टेशन से ऊपर पर्वत तक जाने के लिए पालकी की व्यवस्था की गई। रात को ८ बजे स्वामी जी आबू पहुंचे।

अब तक स्वामी जी के रुग्ण होने का समाचार अन्य स्थानों पर भी पहुंच चुका था। अजमेर के आर्य सज्जनों ने श्री जेठमल से स्वामी जी की दशा जान कर स्थानीय डाक्टरों और वैद्यों से परामर्श किया। रोग के लक्षण सुनकर सब की यही राय हुई कि स्वामी जी को संखिया दिया गया है। पिसे हुए कांच और संखिया से उत्पन्न होने वाले उपद्रव प्रायः मिलते-जुलते हैं। फिर स्वामी जी को गर्मी अत्यधिक मात्रा में सता रही थी, यह भी संखिया नामक भयंकर विष के प्रकोप का ही परिणाम था।

डा० लछमनदास का उसी दिन आबू से अजमेर को तबादला हो रहा था। जब उन्हें स्वामी जी की रुग्णता का समाचार मिला तो उन्होंने अपने गुरू की चिकित्सा करना अपना सर्वोपरि कर्तव्य समझा। उन्होंने अपना तबादला रुकवाने की कोशिश की। जब उनका तबादला किसी भी तरह नहीं रुका तब उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया उन्होंने आबू के चीफ मैडिकल आफिसर डा० स्पैंसर से भी परामर्श किया। डा० लछमनदास के इलाज से स्वामी जी को आराम भी हुआ। पर उनका त्यागपत्र स्वीकृत नहीं हुआ। अन्त में स्वामी जी के आग्रह से उन्हें अजमेर जाने को बाध्य होना पड़ा। स्वामी जी से विदा होते समय डा० लछमनदास की आखें भर आईं। स्वामी जी का हृदय भी द्रवित हो गया।

तब तक मेरठ से मुंशी लक्ष्मण स्वरूप, फ़र्रुखाबाद से पं० लक्ष्मीदत्त, बाबू शिवदयालसिंह, जोधपुर से कर्नल प्रतापसिंह तथा बम्बई से सेवकलाल कर्सनदास २३ अक्टूबर को ही आबू पहुच गए थे। ठाकुर भूपालसिंह भी स्वेच्छया स्वामी जी की सेवा के लिए मार्ग में ही उनके साथ हो लिये थे। उन्होंने सचमुच जैसी निष्ठा और लगन से स्वामी जी की सेवा की, वैसी कोई पुत्र भी पिता की क्या करेगा।







फिर अजमेर में :—

२६ अक्टूबर को स्वामी जी आबू से अजमेर के लिए रवाना हुए। स्टेशन पर भक्तों की भीड़ स्वामी जी के स्वास्थ्य-समाचार जानने के लिए उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा कर रही थी। जिन्होने पहले कभी स्वामी जी का दर्शन किया था वे इस समय उनकी निर्बलता देखकर स्तब्ध रह गए। इस समय वे मुंह से बोल नहीं सकते थे, मुख-जिह्वा-कण्ठ और तालू में छाले पड़े हुए थे, बिना सहायता के करवट भी नहीं ले सकते थे, पानी तक गले से नीचे नहीं उतर रहा था, अन्तर्दाह बहुत अधिक था, परन्तु होश-हवास बिल्कुल ठीक थे।

अजमेर में स्वामी जी को मसूदा के ठाकुर साहब के बंगले पर, जो बाद में भिनाय की कोठी कहलाई, ठहराया गया।

डा० लछमनदास पहले अजमेर आ ही चुके थे। उन्हें सूचित किया गया। वे तुरन्त स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हो गए। मौसम सर्दी का था और सब दरवाजे खुले हुए थे, फिर भी स्वामी जी गर्मी के मारे बेचैन थे। डा० लछमनदास ने निदान किया कि स्वामी जी को डबल निमोनिया ने आक्रान्त कर लिया है। २९ अक्टूबर से उन्होंने पुनः इलाज प्रारम्भ किया, परन्तु स्वामी जी को आराम नहीं पड़ा।

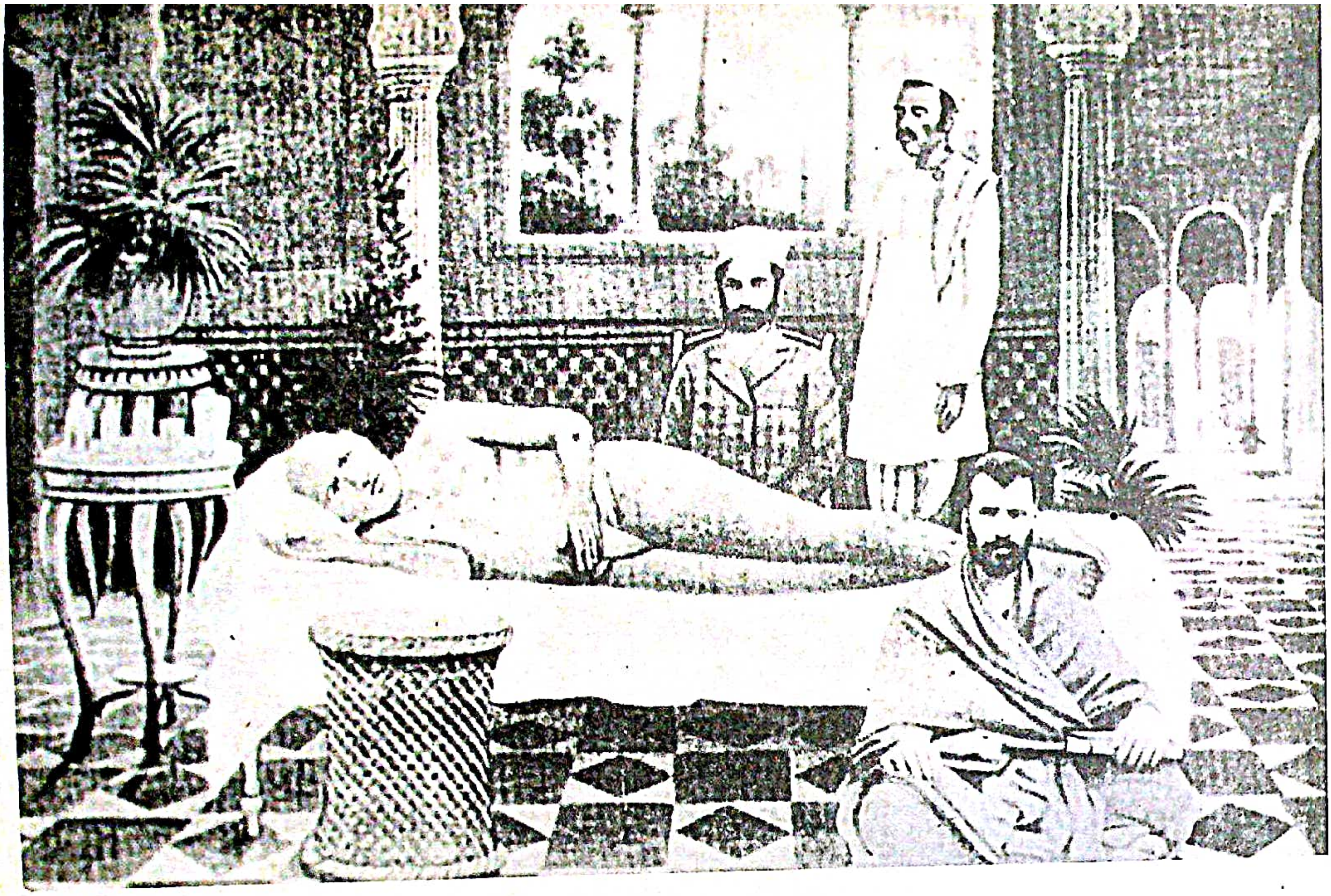
जब रोग का पुनः तीव्र आक्रमण हुआ तब स्वामी जी ने अपने स्वीकार-पत्र (वसीयतनामे) की प्रतियां उपस्थित लोगों में वितरित करवाईं। कई शाल और सहस्राधिक रुपया मंगाकर डा० लछमनदास को भेंट करना चाहा। पर डा० लछमनदास ने कहा : "महाराज ! मेरे पास धन होता तो मैं इतना धन आपके एक एक लोम पर निछावर कर देता।" दोनों का हृदय भर आया।

उसी दिन जज राय भागराम और एक्जीक्यूटिव इंजिनीयर सरदार भगतसिंह स्वामी जी से मिलने आए तो स्वामी जी ने उनसे भी कहा कि यदि मेरा उपचार शुरू से ही डा० लछमनदास के हाथ में होता तो विष देकर मुझे संसार से हटा देने का षड्यंत्र विफल हो जाता।

जब कष्ट और बढ़ गया, तब डाक्टर न्यूमन साहब को बुलाया गया। वे भी स्वामी जी को देखकर हतप्रभ हो गए और आश्चर्य प्रकट करते हुए कहने लगे—"धन्य है ऐसे सत्यपुरुष को। हमने ऐसी दृढ़ इच्छा-शक्ति वाला मनुष्य आज तक नहीं देखा जो सिर से लेकर पांव तक इस प्रकार पीड़ातुर हो और उसके मुख से तनिक सी आह भी न निकले।" ऋषि का धैर्य इतना आश्चर्यजनक था कि जो भी देखता, दांतों तले अंगुली दबाकर रह जाता।

अगले दिन ३०, अक्तूबर को श्वास का वेग फिर तीव्र हो गया। ऐसा लगता था कि स्वामी जी बारम्बार श्वास को रोक कर ईश्वर का चिन्तन कर रहे हैं। एक भक्त ने पूछा—"आज आपकी तबियत कैसी है ?" स्वामी जी ने कहा—"एक मास के बाद आज आराम का दिन है।" लाहौर से आए श्री जीवनदास ने पूछा—"महाराज ! इस समय कहाँ हैं ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"ईश्वरेच्छा में।" स्वामी जी के मुख पर शोक या घबराहट के बजाय सन्तोष और वीरता का भाव देखकर सब चकित थे।





मृत्युशय्या पर :—

वार्तालाप करते-करते ही सायंकाल के पांच बज गए। लोगों ने पूछा— "अब आपकी तबियत का क्या हाल है?" स्वामी जी ने कहा "अच्छा है। तेज और अन्धकार का भाव है।"

जब साढ़े पांच बज गए तब स्वामी जी ने कहा कि सब आर्यजनों को बुलाओ और हमारे सिरहाने की ओर पीछे खड़ा कर दो।

जब सब लोग आ गए, तब कहा— "चारों ओर के द्वार खोल दो और छत की ओर के रोशनदान भी खोल दो।" तब तक उदयपुर नरेश की आज्ञानुसार श्री मोहनलाल विष्णुलाल पड्या और लाहौर के आर्यजनों के प्रतिनिधि पं० गुरुदत्त विद्यार्थी भी वहाँ आ चुके थे।

स्वामी जी ने पूछा— "आज कौनसा पक्ष, तिथि और वार है?" किसी ने उत्तर दिया —"कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की सन्धि की सूचक अमावस्या और मंगलवार है।" यह सुनकर स्वामी जी ने एक बार चारों ओर दृष्टि डाली, कुछ वेदमंत्र पढ़े, संस्कृत में ईश्वर की प्रार्थना की, हिन्दी में कुछ स्तुति की और उसके बाद प्रसन्नचित्त होकर गायत्री मंत्र का पाठ करने लगे। कुछ देर तक समाधि की स्थिति में रहे और फिर नयन खोलकर मुख से इन शब्दों का उच्चारण किया—"हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छापूर्ण हो। अहा! तूने अच्छी लीला की।" इतना कहकर उन्होंने स्वयं करवट ली और एक बार श्वास रोक कर तीव्र वेग से बाहर निकाल दिया।

३० अक्टूबर, सन् १८८३, दीपमाला का पर्व। उधर संध्या के समय भुवन-भास्कर सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे थे और इधर वैदिक धर्म दिवाकर महर्षि दयानन्द की आत्मा इस नश्वर शरीर को छोड़कर जगन्नियता के सान्निध्य को प्राप्त हो गई।

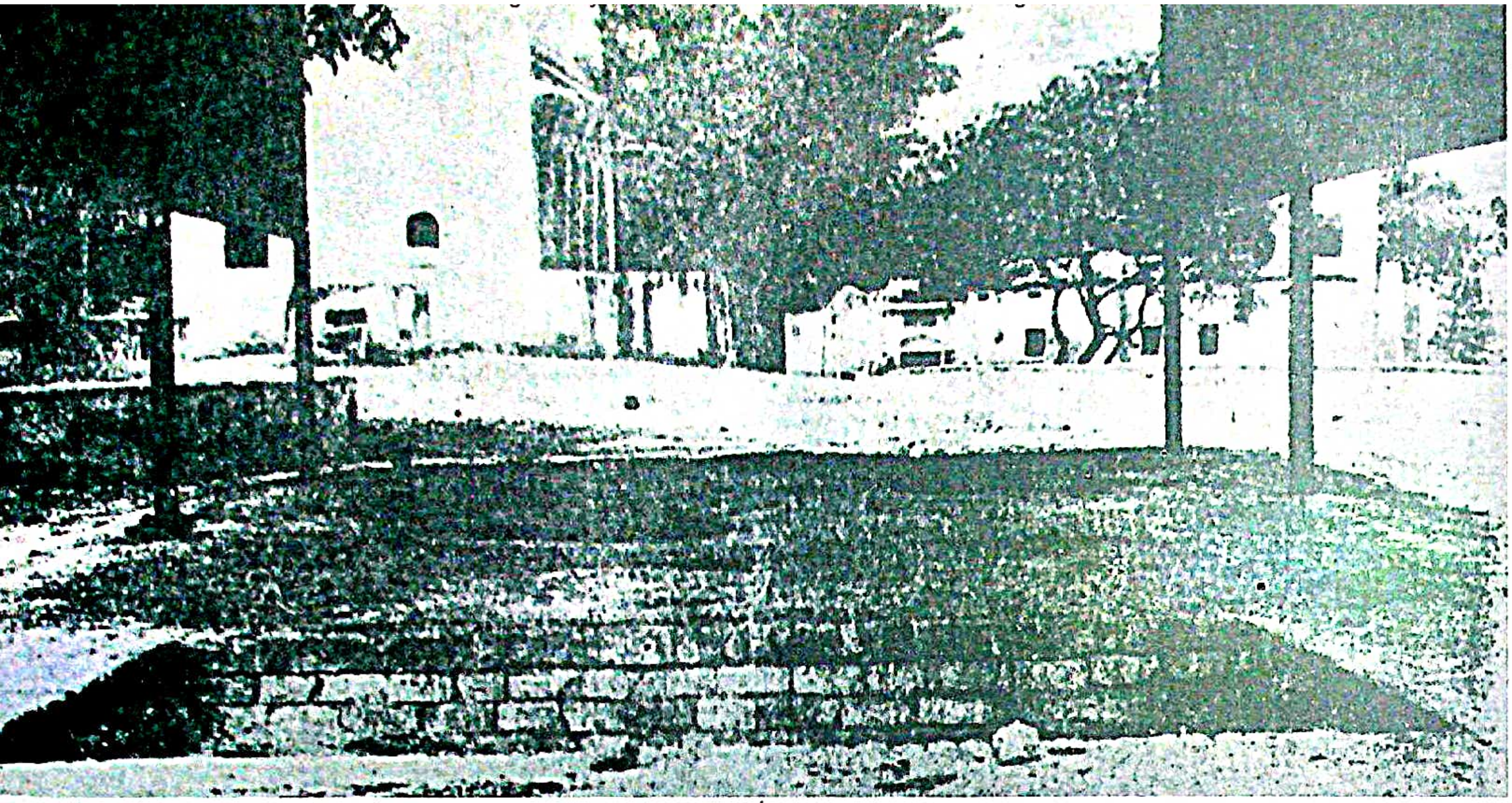
इस करुण किन्तु वीरोचित मृत्यु के दृश्य को पं० गुरुदत्त विद्यार्थी मूक बन कर देखते रहे। विज्ञान के भक्त होने से उनके मन में ईश्वर के अस्तित्व के प्रति संदेह था, पर जब एक योगी और ईश्वर विश्वासी को इस प्रकार मृत्यु का सहर्ष वरण करते देखा तो उनका वह संदेह, जो उस समय तक किसी की युक्ति और तर्क से दूर नहीं हुआ था, विलीन हो गया और वे दृढ़ आस्तिक बन गए। इस भूलोक में ऐसा दृश्य दुर्लभ होगा जब एक मृत्यु ने भी किसी नास्तिक हृदय के मरुस्थल में आस्तिकता की पवित्र गंगा प्रवाहित कर दी हो।

स्वामी जी का जीवन जैसा दिव्य था, उनका महापरिनिर्वाण उससे कम दिव्य नहीं था।



उदयपुराधीश महाराणा सज्जनसिंह ने स्वामी जी के स्वर्गवास का समाचार सुनकर निम्न शब्दों में अपने शोक-संतप्त हृदय का उद्‌गार व्यक्त किया था –

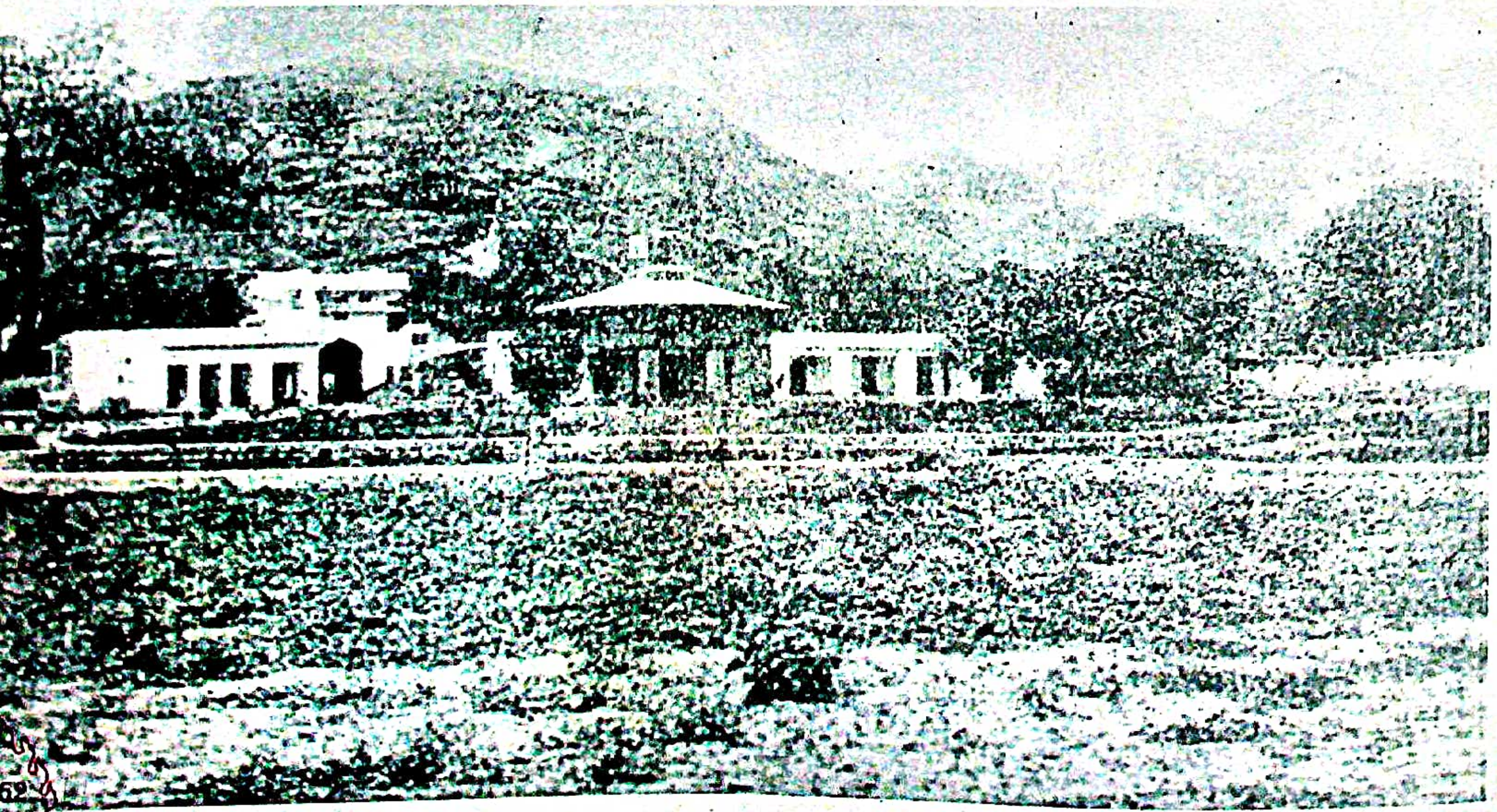
जाके जीय जौर तें प्रपंच फिलासफिन को, भारत सो समस्त आर्यमण्डल तें मान्यो मैं
वेद के विरुद्धी मत मत के कुबुद्धी मन्द, भद्र भद्र आदिन पें सिंह अनुमान्यो मैं।
ज्ञाता खट ग्रन्थना को वेद को प्रणेता जेता, आर्य विद्या अर्क हू को अस्ताचल जान्यो मैं
स्वामी दयानन्द जू के विष्णुपद प्राप्त हूं ते पारिजात को सो आज पतन प्रमान्यों मैं ॥

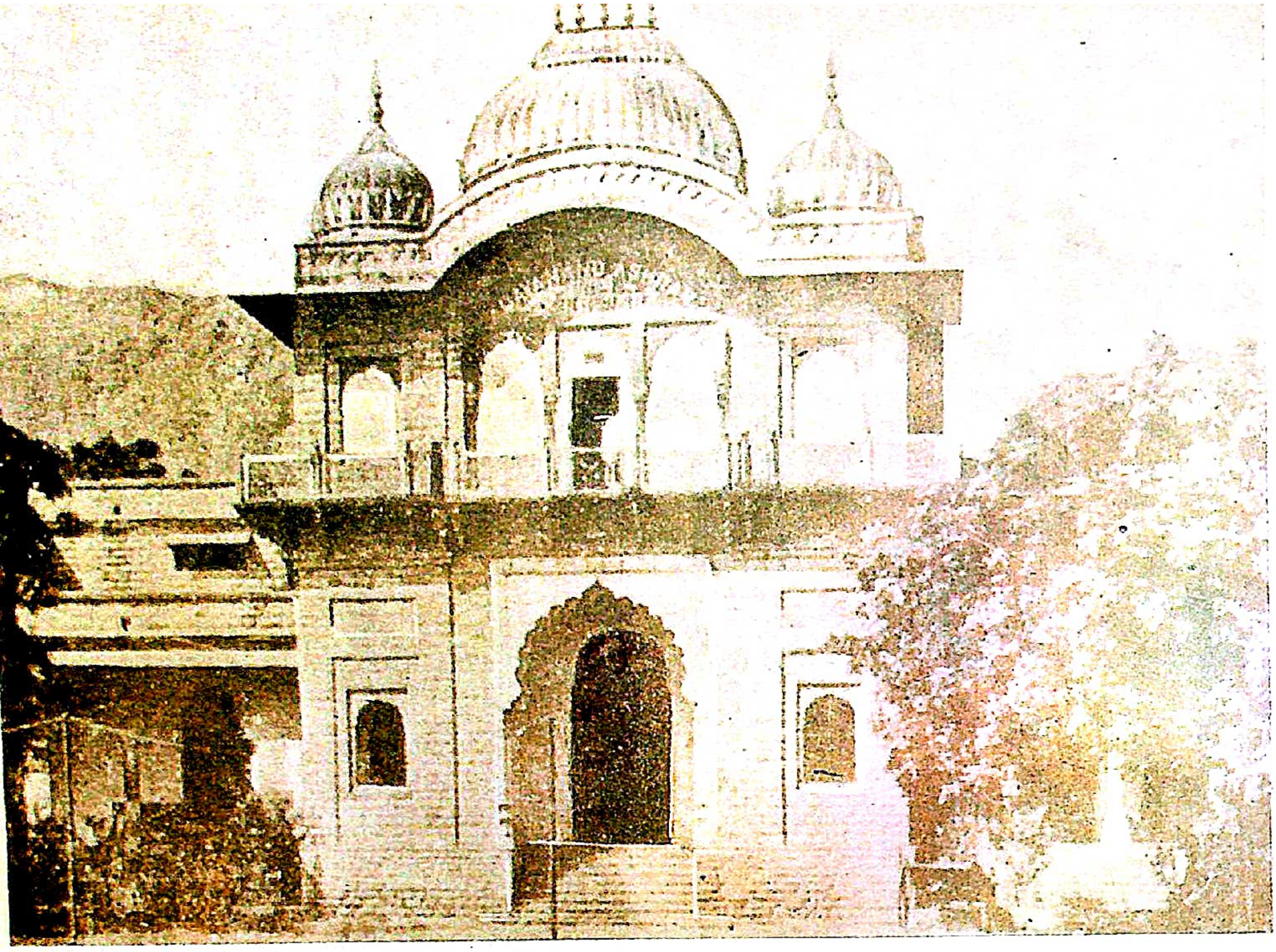


स्वामी जी के परलोक प्रयाण का समाचार सुनकर दो सन्यासी आए और कहने लगे कि स्वामी जी यद्यपि हमारे प्रतिपक्षी थे और हमारा खण्डन भी किया करते थे, पर सन्यासी होने के नाते से हम अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि उनके शव का दाहकर्म करने के बजाय उसे भूमि में गाड़ने की व्यवस्था करें, जैसी कि सन्यासियों की परम्परा है। आर्य पुरुषों ने उन्हें समझा दिया कि स्वामी जी अपने शव की अन्त्येष्टि के बारे में पहले से ही सबकुछ लिखकर आदेश दे गए हैं. इसलिए उसी के अनुसार कार्य होगा।

स्वामी जी के शव की अजमेर के मलूसर श्मशान में विधिवत् घृत, चंदन, कपूर आदि के साथ अन्त्येष्टि की गई। बाद में वहाँ एक वेदिका बना दी गई।

अजमेर के ही अनासागर सरोवर में उनकी भस्मी विसर्जित कर दी गई।





महर्षि दयानन्द हिन्दुस्तान के आधुनिक ऋषियों में, सुधारकों में और श्रेष्ठ पुरुषों में अग्रणी थे। उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत पड़ा है।

—महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी

मेरा सादर प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को जिसने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता के दर्शन किए और जिसके उज्ज्वल मानस ने भारतीय जीवन के सब अंगों को प्रदीप्त कर दिया जिसका उद्देश्य भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति में लाना था, उस गुरू को मेरा बारम्बार प्रणाम है।...... मैं आधुनिक भारत के मार्गदर्शक उस दयानन्द को आदरपूर्वक श्रद्धांजलि देता हूं जिसने देश की पतित अवस्था से सीधे व सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।

—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

शुद्धि-पत्र

संख्या	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
3	1	अर्यि	आर्य
3	1	शताब्दा	शताब्दी
3	2	अन्तगत	अन्तर्गत
5	22	प्रलोभनो	प्रलोभनों
5	22	भोगो	भोगों
9	6	मोरवी राज्य	(वर्तमान जि॰ राजकोट)
9	14	लाड	लाड़
10	31	शुक्ल पक्षसे	शुक्ल पक्षके
11	5	गोपालसहसुनाम	गोपालसहस्रनाम
11	5	बल्लभाचार्य	वल्लभाचार्य
11	7	बल्लभ	वल्लभ
11	8	गोसाईंयों	गोसाइयों
11		काठियावाड़	काठियावाड़
11	14	देख	दीख
12	3	मेघावी	मेधावी
12	4	स्वंय	स्वयं
14	9	घीरे	धीरे
14	11	सांयकाल	सायंकाल
14	13	दूघ	दूध
14	14	अर्ध्यं	अर्घ्य
16	15	दीं	दी
17	1	व्रत	व्रत
17	14	निरूक्त	निरुक्त
19	1	पुन	पुनः
19	2	लोकरजनकारी	लोकरंजनकारी
19	3	हाँफते हुए	हाँफते हुए
19	4	सेव	सेवा
19	9	(पंरा के अन्त में) ।	
19	12	म्रत्यु	मृत्यु
19	15	नाशवान है	नाशवान हैं
19	16	वूद	बूंद
20	6	थो	थी
20	8	सर्वोतम	सर्वोत्तम
20	14	ग्रहत्याग	गृहत्याग
21	4	विवा ह	विवाह
21	7 व 9	करूगा	करूंगा
21	10	गुरू	गुरु
21	12	कशन जी	कर्शन जी
21	18	मलशंकर	मूलशंकर
21	25	मग्न •	मग्न
21	25	माता-पित	माता-पिता
21	27	उद्यम	उद्दाम
21	42	राजपुरूष	राजपुरुष
22	2	टोली	टोली
22	3	अराधना	आराधना
24	1 व 5	शूद्धचैतन्य	शुद्धचैतन्य
24	7	नैस्टिक	नैष्ठिक
24	9	ब्रह्मचर्या श्रम	ब्रह्मचर्याश्रम
25	4	द्वारा	द्वारा

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
25	9	शूद्धचैतन्य	शुद्धचैतन्य
25	9	दोंनो	दोनों
25	10	लोंगों	लोगों
26	8	चट्	चढ़
27	2	गय	गये
27	4	शूद्धचतंन्य	शुद्धचैतन्य
27	8	दण्डकारव्य	दण्डकारण्य
27	10,12,15	व्रह्मचारी	ब्रह्मचारी
27	16	वन जाने	वन जाने
28	6	व्रह्मविद्या	ब्रह्मविद्या
29	5	ममत्त्र	ममत्व
29	10	व्रह्मविद्या	ब्रह्मविद्या
29	11	विघ्नकारी	विघ्नकारी
29	12	पूर्णानन्द जा	पूर्णानन्द जी
29	30	घुरंघर	धुरंधर
30	1	निरभिमानता	निरभिमानता
31	9	दूधेश्वर	दूधेश्वर
31	17	रहते थे ।	रहते थे ।
33	1	सुनरखा	सुन रखा
33	1	विरक्ता	विरक्तों
34	13	पृथ्वी	पृथ्वी
36	9	उतराखड	उत्तराखंड
37	3	किकर्तव्यमूढ़	किंकर्तव्यमूढ़
37	12-13	उखी मठ	ऊखी मठ
38	6 व 11	उखी मठ	ऊखी मठ
38	7	व्रह्मचर्य	ब्रह्मचर्य
38	14	तपश्चंया	तपश्चर्या
38	15	निलोभिता	निर्लोभिता
38	17	दृढ़वनी	दृढ़व्रती
38	18	फल की	फूल की
40	5	चर्चा	चर्चा
41	6	व्रह्मचागी	ब्रह्मचारी
44	13	दरूणा	वरुणा
46	3	दय नन्द	दयानन्द
49	15	व-धकर	बांधकर
49	18	ऋपिनुनियों	ऋषिमुनियों
50	10	फेंक	फेंक
50	19	बनावट	बनावट
50	25	कारीगरी	कारीगरी
51	7	अज्ञानी है	अज्ञान है
52	32	उपर्यु क्त	उपर्युक्त
55	9	रविशकर	कवि शंकर
56	5	ओर	ओर
56	11	संन्यासी	सन्यासी
56	12	अश्रतपूर्व	अश्रुतपूर्व
56	15	निर्मय	निर्भय
57	17	लगतार	लगातार
61	17	रामलीला	रासलीला
61	25	क्षत्रित्व	क्षत्रियत्व
62	17	धर्मा धर्म	धर्माधर्म

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
63	4	भेजी	भेजा
63	7	ललकरा	ललकारा
63	14	ननं	नंनं
64	7 व 9	निर्लप	निर्लेप
64	16	ऊंचनींच	ऊंचनीच
65	3	सरपूपारी	सरयूपारी
65	6	गर्गा	गंगा
65	10	येन	वेन
68	4	छेक	रोक
68	11	घनधंर	धनुर्धर
68	12	अमोध	अमोघ
70	3	आंमत्रित	आमंत्रित
70	5	कलाव-स्तुओं	कलावस्तुओं
73	23	जात-पात	जांत-पांत
74	8	वय्चे	बच्चे
75	18	वृदावन	वृन्दावन
77	14	वहाँ भी ही	वहां यही किया
78	3	अष्टाध्यापी	अष्टाध्यायी
78	6 व 7	स्वामी जी को	स्वामी जी से
80	9	बेवोलिया	बेबीलोनिया
80	11	वहिश्त	वहिश्त
85	12	प्रधाव	प्रभाव
86	23	विद्वता	विद्वत्ता
86	28	महाराज-लायवेल	महाराज लायेबल
90	15	रानडे	रानाडे
90	16	निषेप	निषध
91	6	वम्बई को	वम्बई की
96	3	ध्यान	ध्यान
96	7	हुए थे	हुए थे
97	5	स्वयं	स्वयं
97	10	आडोलित	आलोड़ित
97	11	मूर्धन्य	मूर्धन्य
97	23	ओउम	ओ३म्
97	22	वड़ोदा	वड़ोदरा
97	20	सवको	सबको
98	2	हिन्दुओ	हिन्दुओं
98	4	व्वाख्यान	व्याख्यान
98	17	गोसाईयों	गुसाइयों
99	19	उससे	उसने
100	13	पुकोजिराव	तुकोजीराव
102	14	मुंशी इन्द्रमन	मुंशी इन्द्रमणि
103	12	चेतावासी	चेतावनी
104	15	किम्वदन्ती	किम्वदन्ती
105	1	स समिधुवसे	संसमिद्युवसे
105	1	ऋगवेद	ऋग्वेद
105	9	समिति समानो	समितिः समानी
106	13	कार स्टीफन	कारस्टीफन
106	25	वपतिस्मा	वपतिस्मा
107	6	आन्तरिक	आन्तरिक

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
111	10	सस्कृत	संस्कृत
112	1	लाखो	लाखों
113	23	वपौती	वपौती
115	7	उपास्थित	उपस्थित
116	4	में	रूप में
116	9	शरणागत्	शरणागत
116	16	जीवनवृत	जीवनवृत्त
117	6	लेखवद्ध	लेखबद्ध
119	1,3,8,11	विशप	विशप
119	8	महाराज	महाराज
119	14	आपत्तियाँ	आपत्तियाँ
120	3	गुरू	गुरु
120	14	गुमाशता	गुमाश्ता
120	32	भेडिये	भेड़िये
120	36	पैसों का	पैसों से
121	1,2	गोकरूणानिधि	गोकरुणानिधि
121	6	मेरूदण्ड	मेरुदण्ड
122	35	जिन्होमे	जिन्होंने
124	17	आक्सफोड	आक्सफोर्ड
125	11	उन्होने	उन्होंने
125	17	व्वाख्यान	व्याख्यान
125	17	व्याश्यान	व्याख्यान
127	12	अभ्ययना	अभ्यर्थना
128	15	राज्य	राज्य से
129	23	उर्घोग	उद्योग
131	1	वमा	वर्मा
132	1	नामावलि	नामावली
132	5	मेवाण	मेवाड़
135	8	धर्म	धर्म
136	13	मरूभूमि	मरुभूमि
137	8	नहुरनें	नहरनों
138	5	जोवपुर	जोधपुर
139	9	ब्रह्य	ब्रह्म
139	14	निर्लेप	निर्लेप
139	14	निवाण	निर्वाण
139	14	लेगा	लेगी
141	1	जरवन्तसिह	जसवन्तसिंह
141	7	स्वामा	स्वामी
141	7	जा	जी
141	7	ज धपुर	जोधपुर
141	7	म	में
141	[illegible]	रह	रहे
143	5	तवियत	तबियत
144	8	"	"
146	7	सकडो	सैंकड़ों
147	7	गुरू	गुरु
150	2	तवियत	तबियत
150	4	साड़े	साढ़े
150	7	पड्या	पंड्या